

द्वैमासिक  
जनवरी-जून 2013  
20 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

# आह्वान

- बंगलादेश में मुनाफ़े की अन्धी हवस की बलि चढ़े सैकड़ों मज़दूर
- 'आप' का घोषणापत्र सन्त पूँजीवाद का भ्रम फैलाने का बचकाना और मज़ाकिया प्रयास
- पूरे देश को फासीवाद की प्रयोगशाला में तब्दील करने की तैयारी
- 'जाति उन्मूलन का रास्ता मज़दूर इंक़लाब से होकर जाता है!'
- नकद सब्सिडी योजना-एक ग़रीब-विरोधी योजना
- फिल्म: डार्क नाइट राइज़ेज़: पूँजीवाद या बर्बरता!

# क्रियाशीलता में ही विचार की सार्थकता है!

सूक्ष्म सैद्धान्तिक स्तर पर इस मत से इन्कार नहीं किया जा सकता कि समाज में विचार बराबर आन्दोलित और परिवर्तित होते रहते हैं, गति और परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, और इसलिए ऐसे लोगों की भी बराबर आवश्यकता रहती है जो इन विचारों का प्रचार करें। यह सब बिल्कुल ठीक है। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि समाज के जीवन का लक्ष्य बस वाद-विवाद और विचारों का आदान-प्रदान नहीं है, केवल इसी में उसके जीवन की इतिश्री नहीं है। विचारों और उनके क्रमशः विकास का महत्व केवल इस बात में है कि प्रस्तुत तथ्यों से उनका जन्म होता है और वे यथार्थ वास्तविकता में सदा परिवर्तनों की पेशवाई करते हैं। परिस्थितियाँ समाज में आवश्यकता को जन्म देती हैं। इस आवश्यकता को सब स्वीकार करते हैं, इस आवश्यकता की आम स्वीकृति के बाद यह ज़रूरी है कि वस्तुस्थिति में परिवर्तन हो, ताकि सबके द्वारा स्वीकृत इस आवश्यकता को पूर्ण किया जा सके। इस प्रकार किन्हीं विचारों तथा आकांक्षाओं की समाज द्वारा स्वीकृति के बाद ऐसे दौर का आना लाज़िमी है जिसमें इन विचारों तथा आकांक्षाओं को अमल में उतारा जा सके। चिन्तन-मनन और वाद-विवाद के बाद क्रियाशीलता का श्रीगणेश होना चाहिये। ऐसी दशा में, प्रश्न किया जा सकता है : पिछले बीस-तीस वर्षों में हमारे समाज ने क्या किया है? अब तक-कुछ नहीं। उसने मनन-अध्ययन किया, विकसित हुआ, रूढ़िनों (रूसी साहित्य के नायक) के प्रवचनों को सुना, अपने विश्वासों के लिए संघर्ष के दौर में लगे आघातों पर उनके साथ सहानुभूति प्रकट की, कार्यक्षेत्र में उतरने की तैयारी की, किन्तु किया कुछ नहीं! ढेर की ढेर सुन्दर भावनाओं-कल्पनाओं से लोगों के हृदय-मस्तिष्क पट गये; समाज की वर्तमान व्यवस्था के बेतुकेपन और बेहूदगी का इतना पर्दाफ़ाश किया गया कि पर्दाफ़ाश करने के लिए और कुछ रह ही नहीं गया। प्रतिवर्ष विशिष्ट, अपने-आपको “चारों ओर की वास्तविकता से ऊँचा समझनेवाले,” लोगों की संख्या बढ़ने लगी। ऐसा मालूम होता था कि शीघ्र ही सब लोग वास्तविकता से ऊँचे उठ जायेंगे। ऐसी दशा में, स्पष्ट ही, यह भावना कि हम सदा इसी प्रकार विषमता, सन्देह, वायवी दुख और हवाई ढाढ़स के दुरूह पथ पर चलते रहेंगे, कोई अर्थ नहीं रखती। अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं जो “हमें चारों ओर की वास्तविकता से ऊँचा उठाने वाले” हों। हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो हमें स्वयं वास्तविकता को ऊँचा उठाना सिखायें, ताकि हम उसे उन संगत मानों के स्तर पर ला सकें जिन्हें सब मानते और स्वीकार करते हैं।

—दोब्रोवोव

## आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

► “आह्वान” विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमन्त्रित करता है। “आह्वान” क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। “आह्वान” ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

► “आह्वान” ज़िन्दगी के इस दमघोटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के खिलाफ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। “आह्वान” जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिए नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

## इस अंक में

पाठक मंच	2
अपनी ओर से	
बंगलादेश में मुनाफ़े की अन्धी हवस की बलि चढ़े सैकड़ों मजदूर	3
स्मृति-शेष	
काँ. शालिनी नहीं रहीं...	8
विशेष लेख	
सन्त पूँजीवाद का भ्रम फैलाने का बचकाना और मज़ाकिया प्रयास	46
सामयिकी	
सारदा चिटफण्ड घोटाला: लुटेरे, सेंधमार पूँजीवाद का उदाहरण	6
नकद सब्सिडी योजना—एक ग़रीब-विरोधी योजना	12
पूरे देश को फासीवाद की प्रयोगशाला में तब्दील करने की तैयारी	14
पूँजीवादी जनवाद के खाने के दाँत	17
“विकास” की बेलगाम ऊर्जा	18
उद्यमशीलता की आड़ में मेहनतकशों के लूट की माँग!	35
दुनिया के सबसे बड़े और महँगे पूँजीवादी जनतन्त्र की तस्वीर	38
किसे चाहिए अमेरिकी शैली की स्वास्थ्य सेवा?	40
रपट	
‘जाति उन्मूलन का रास्ता मजदूर इंक़लाब से होकर जाता है!’	22
विश्व पटल पर	
अमेरिका की बन्दूक संस्कृति पूँजीवादी संस्कृति की ज़हरीली उपज	31
आर्कटिक पर कब्ज़े की जंग	33
विरासत	
चन्द्रशेखर आज़ाद—ग़रीब मेहनतकश जनता की क्रान्ति चेतना के प्रतीक	37
फिल्म समीक्षा	
डार्क नाइट राइज़ेज़: पूँजीवाद या बर्बरता!	42
साहित्य	
मक्सिम गोर्की की कहानी	51

## मुक्तिकामी छात्रों— युवाओं का आह्वान

वर्ष 6 अंक 1-3  
जनवरी-जून 2013

सम्पादक  
अभिनव

सह-सम्पादक  
कविता

सज्जा  
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य बीस रुपये

वार्षिक सदस्यता : 100 रुपये  
द्विवार्षिक सदस्यता : 200 रुपये  
पंचवर्षीय सदस्यता : 500 रुपये  
आजीवन सदस्यता : 3000 रुपये

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन : 011-64623928, 9211662298

ईमेल : ahwan.editor@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक अभिनव सिन्हा द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

## पाठक मंच

हम चाहते हैं  
एक ऐसी भाषा  
जिसमें धड़क उठें  
हम तुम्हारे साथ  
एक ऐसा समाज  
जिसमें हम भी हों शामिल  
अपने वजूद के साथ  
जैसे कि तुम हो।  
हम चाहते हैं  
एक ऐसी दुनिया  
जहाँ चल सकें हम  
तुम्हारे साथ  
जहाँ तुम हमारे  
सहयोगी हो, सहयात्री हो  
साथी हो  
हम हमारी जिंदगी की  
व्याख्या नहीं चाहते  
इसे बदलना चाहते हैं।

प्रिय साथी,  
'आह्वान' का नया अंक मिला। हमेशा की तरह  
विचारोत्तेजक था। मारुति सुजुकी मजदूरों पर आये लेख ने  
अपनी जटिलता के बावजूद बहुत से भ्रमों का निवारण किया।  
निश्चित तौर से आज देश के मजदूर आन्दोलन में प्रचलित  
अराजकतावादी प्रवृत्तियों के निरन्तर नकार की आवश्यकता  
है। व्यवस्थित शोषणकारी व्यवस्था को व्यवस्थित प्रतिरोध ही  
ध्वस्त कर सकता है।

कृत्रिम चेतना पर आया लेख ज्ञानवर्द्धक था। विज्ञान के  
कॉलम में नियमितता नहीं बन पा रही है, उसे बरकरार रखने  
का प्रयास करें। पहले के अंकों में कुछ विशेष राजनीतिक  
फिल्मों की समीक्षाएँ आयी थीं, उन्हें भी दुबारा शुरू किया  
जाना चाहिए। फिल्मों का आज के युवाओं की मानसिकता पर  
जो प्रभाव पड़ता है, उसके मद्देनजर पूँजीवादी प्रचार का  
नकार करने के लिए फिल्म समीक्षाएँ दी जानी चाहिए।

एरिक हॉब्सबॉम पर आया लेख न सिर्फ उन्हें याद करता  
है, बल्कि उन्हें आलोचनात्मक रूप से याद करता है। आह्वान  
में पहले भी जो राजनीतिक श्रृद्धांजलियाँ छपी थीं, वे उत्कृष्ट  
थीं। लेकिन पत्रिका की नियमितता को लेकर हमेशा की तरह  
शिकायत है। कृपया, ऐसी ज़रूरी पत्रिका की नियमितता बरकरार  
रखें।

-अंजना, दिल्ली

-सुनील, दिल्ली

### घोषणापत्र का प्रपत्र: प्रपत्र 4 (नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	द्वैमासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	दस रुपये
प्रकाशक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094
प्रकाशन का स्थान	करावलनगर, दिल्ली
मुद्रक का नाम	अभिनव सिन्हा
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094
मुद्रणालय का नाम	रुचिका प्रिण्टर्स, 1/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
सम्पादक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094
स्वामी का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं अभिनव सिन्हा, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर

(अभिनव सिन्हा)

प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

# बंगलादेश में मुनाफ़े की अन्धी हवस की बलि चढ़े हरेक मज़दूर की मौत पूँजीवादी व्यवस्था के ताबूत की कील साबित होगी!

24 अप्रैल 2013 की वह सुबह बंगलादेश के कपड़ा मज़दूरों के लिए एक भयावह सपने से कम नहीं थी। बंगलादेश की राजधानी ढाका से 20 मील उत्तर-पश्चिम में सावर नामक औद्योगिक इलाके में एक जर्जर इमारत के ढहने से 1000 से भी ज़्यादा मज़दूर इमारत के मलबे में दबकर मर गये। जैसे-जैसे दिन गुज़रते गये मज़दूरों की लाशें निकलती गयीं और यह आँकड़ा भी बढ़ता गया। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक लगभग 1100 मज़दूरों के मारे जाने की ख़बर थी और करीब 2500 से ज़्यादा मज़दूरों को बचाया जा चुका था। इस आठ-मंज़िला इमारत में रेडीमेड कपड़ों के पाँच कारखाने थे। एक दिन पहले ही इस इमारत में दरारें नज़र आ गयी थीं और इसे ख़ाली करा लिया गया था। इसके बाद इमारत के मालिक ने बड़ी बेशरमी के साथ दावा किया कि यह इमारत 100 साल तक टिकी रह सकती है। अगले दिन कारखाना मालिकों ने मज़दूरों को फिर काम पर बुला लिया। मज़दूरों को धमकी दी गयी थी कि नहीं आने पर उन्हें काम से निकाल दिया जायेगा या वेतन काट लिया जायेगा। जिस वक्त यह हादसा हुआ करीब 3500 मज़दूर इस इमारत में काम कर रहे थे। इनमें से अधिकांश महिलाएँ थीं।

इस हादसे की जाँच के बाद जो बात सामने आयी उसमें कुछ भी नया नहीं था। इमारत मालिक और कारखाना मालिकों द्वारा सुरक्षा मानदण्डों की गम्भीर अनदेखी की गयी थी। इमारत की मूल स्वीकृति केवल पाँच मंज़िलों और एक शॉपिंग मॉल की थी, भारी मशीनों से लैस कारखाना चलाने की नहीं। लेकिन भारत की ही तरह तीसरी दुनिया के ज़्यादातर देशों में, जिसमें बंगलादेश भी शामिल है, श्रम कानूनों और नियमों का उल्लंघन एक आम बात है। इमारत का मालिक सत्तारूढ़ अवामी लीग की युवा शाखा का स्थानीय नेता है। हादसे के बाद इसे और कारखाना मालिकों को गिरफ़्तार तो कर लिया गया है, लेकिन इसके बाद इस मामले में ज़्यादा कुछ होगा, इसकी उम्मीद कम ही है।

बंगलादेश की यह घटना पूँजीवादी व्यवस्था और समाज की प्रतीक घटना है। यह घटना इस सच्चाई की याददिवानी है कि मुनाफ़े की अन्धी हवस में मालिकों का पूरा वर्ग किस तरह सुरक्षा इन्तज़ामों की अनदेखी करता है और हर दिन कितने मज़दूरों को इसके कारण अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। तीसरी दुनिया के देशों पर तो यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। मालिकों का पूरा वर्ग मुनाफ़े के मार्जिन को बढ़ाने के लिए और लागत को ज़्यादा से ज़्यादा कम करने के लिए औद्योगिक इकाइयों में सुरक्षा मानदण्डों को ताक पर रखते हैं। भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश जैसे देशों में मज़दूर हर रोज़ असुरक्षित कार्यस्थितियों में काम करने के लिए अभिशप्त रहते हैं, इसलिए औद्योगिक दुर्घटनाएँ इन देशों में

आम बात है। खुद आई.एल.ओ. की रिपोर्ट कहती है कि ऐसे देशों में प्रतिदिन 6300 मजदूर इन दुर्घटनाओं में अपनी जान गँवाते हैं। किसी भी लिहाज़ से यह आँकड़ा एक सही तस्वीर नहीं पेश करता है, और यह माना जा सकता है कि सही आँकड़ा इससे कहीं ज़्यादा होगा। लेकिन सोचने की बात है कि ऐसी सभी घटनाओं को दुर्घटना कहना कितना सही है। ये दुर्घटनाएँ नहीं हैं बल्कि जानबूझकर सोचे-समझे तरीके से की गयी हत्याएँ हैं। ये घटनाएँ अनजाने में हुई लापरवाही के चलते नहीं बल्कि मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए जानबूझकर सुरक्षा उपायों की अनदेखी के कारण घटित होती हैं। इसके बाद भी अगर इन्हें महज़ दुर्घटना की संज्ञा दी जाती है, तो इससे भद्दा मज़ाक और कोई नहीं हो सकता।

बंगलादेश में घटित यह त्रासदी 1984 की भोपाल गैस त्रासदी के बाद से विश्व की सबसे भयंकर औद्योगिक त्रासदी है और कपड़ा उद्योग में अब तक की सबसे भीषण त्रासदी है। अभी इस घटना को कुछ ही दिन हुए थे कि एक अन्य गारमेण्ट फैक्टरी में आग लगने से 6 मजदूरों की मौत हो गयी। 2005 में बंगलादेश में ही

एक फैक्टरी की इमारत ढह जाने से 73 लोगों की मौत हुई जिनमें से ज़्यादातर कपड़ा उद्योग में लगे मजदूर थे। नवम्बर 2012 में एक कपड़ा कारखाने में आग लगने से 112 मजदूरों की जान गयी और कई सौ मजदूर बुरी तरह से झुलस गये। बंगलादेश का कपड़ा उद्योग लगभग 20 बिलियन डॉलर का उद्योग है। ऐसी “दुर्घटनाएँ” लगभग रोज़ ही इस उद्योग में होती हैं। सस्ते श्रम की उपलब्धता के कारण कपड़ा उद्योग बंगलादेशी अर्थव्यवस्था के लिए सबसे आवश्यक सेक्टर बन चुका है। अमेरिका और यूरोप की बड़ी-बड़ी रिटेल कम्पनियों का माल यहीं तैयार होता है। देश भर में लगभग 4500 कपड़ा कारखाने हैं जिनमें 40 लाख से भी ज़्यादा मजदूर काम करते हैं। इनमें 32 लाख तो केवल स्त्री मजदूर हैं। बड़े-बड़े पश्चिमी रिटेल ब्राण्डों के लिए कपड़ा तैयार करने वाले इस उद्योग की असलियत इस बात से ही ज़ाहिर हो जाती है कि यहाँ काम करने वाले मजदूरों को महीने का दो हज़ार रुपये से भी कम मजदूरी मिलती है। वहीं दूसरी तरफ़ यह उद्योग

बंगलादेश के सालाना निर्यात का 80 प्रतिशत से ज़्यादा हिस्सा पैदा करता है। और बंगलादेश को चीन के बाद दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा कपड़ा निर्यातक बनाता है। लेकिन न तो कभी कारखानेदारों तो और न ही इनके ताक़तवर संघ बी.जी.एम.ई.ए. यानी, ‘बंगलादेश गारमेण्ट मैन्युफ़ैक्चरर्स एण्ड एक्सपोर्टर्स एसोसियेशन’, ने मजदूरों की सुरक्षा की सुध ली। ज़्यादातर कारखानों में मजदूरों के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए ट्रेड यूनियनों तक नहीं हैं। बंगलादेश के कपड़ा उद्योग की इस त्रासदी ने एक बार फिर इस सच्चाई को रेखांकित किया है कि

**बंगलादेश की यह घटना पूँजीवादी व्यवस्था और समाज की प्रतीक घटना है। यह घटना इस सच्चाई की याददिलानी है कि मुनाफ़े की अन्धी हवस में मालिकों का पूरा वर्ग किस तरह सुरक्षा इन्तज़ामों की अनदेखी करता है और हर दिन कितने मजदूरों को इसके कारण अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। तीसरी दुनिया के देशों पर तो यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। मालिकों का पूरा वर्ग मुनाफ़े के मार्जिन को बढ़ाने के लिए और लागत को ज़्यादा से ज़्यादा कम करने के लिए औद्योगिक इकाइयों में सुरक्षा मानदण्डों को ताक पर रखते हैं। भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश जैसे देशों में मजदूर हर रोज़ असुरक्षित कार्यस्थितियों में काम करने के लिए अभिशप्त रहते हैं, इसलिए औद्योगिक दुर्घटनाएँ इन देशों में आम बात है।**

पूँजीवाद न सिर्फ़ मजदूरों का अमानवीय शोषण ही करता है बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूरों की जान की भी कोई कीमत नहीं है। साथ ही, यह सच्चाई भी एक बार फिर सामने आयी है कि मजदूरों को अमानवीय कार्यस्थितियों में काम करने के लिए न सिर्फ़ छोटी देशी पूँजी बल्कि बड़ी विदेशी पूँजी भी मजबूर करती है। ये तमाम बड़ी रिटेल कम्पनियाँ मजदूरों की सुरक्षा को लेकर एकदम बेफ़िक्र रहती हैं। लेकिन इस बार मीडिया में बड़ी ख़बर बनने के बाद इन तमाम बड़ी रिटेल कम्पनियों

की काफ़ी छीछालेदर हुई और अब ये अपनी ज़िम्मेदारी से मुँह चुराने की स्थिति में नहीं हैं, जैसा कि वे पहले थीं। नतीजतन, वॉल मार्ट जैसी कम्पनियों ने कुछ बयान दे दिये कि अब वे ऐसी कम्पनियों को काम नहीं देंगी और काम देने से पहले उनकी जाँच करेंगी। लेकिन यह समझा जा सकता है कि यह महज़ एक ढोंग है। मन्दी के समय में लागत को कम करने की बदहवासी में बड़ी से बड़ी कम्पनियों सभी श्रम कानूनों और मानकों को ताक पर रखकर, सस्ते श्रम के लिए ‘तीसरी दुनिया’ के देशों में बिना किसी जाँच के तमाम कम्पनियों को काम सौंप रही हैं। यह उन्हें उनकी ज़िम्मेदारी और सिरदर्द से मुक्ति देता है और लागत को भी कम करता है। ऐसा नहीं है कि हालिया दुर्घटना बंगलादेश के कपड़ा उद्योग में हुई पहली दुर्घटना है, हालाँकि यह सच है कि यह अब तक की सबसे बड़ी दुर्घटना थी। लेकिन हर दुर्घटना के बाद उन्नत देशों के नागरिकों में अपनी इज़्जत और साख बचाने के लिए ऐसी कम्पनियाँ कुछ दिखावटी बयान दे देती हैं

लेकिन अपने कुकर्म जारी रखती हैं। वॉल मार्ट और उस जैसी कुछ बड़ी कपड़ा कम्पनियों ने भी इस बार ऐसा ही किया है।

यहाँ यह बात भी गौरतलब है कि न सिर्फ अमेरिका और अन्य उन्नत देशों का, बल्कि भारत और बंगलादेश जैसी पिछड़े पूँजीवादी देशों के खाते-पीते उच्च मध्यवर्ग को ऐसी घटनाओं से कोई फर्क नहीं पड़ता। 1960 या 1970 के दशक में मध्यवर्ग का भी चरित्र ऐसा था कि ऐसी किसी भी घटना के बाद उसके तमाम लोग ऐसी कम्पनियों के उत्पादों का बहिष्कार कर देते। लेकिन आज के अघाये हुए मध्यवर्ग को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता है कि वॉल मार्ट के किसी स्टोर से खरीदी उसकी डिज़ाइनर जींस या शर्ट मज़दूरों के खून से तर हो। साथ ही, यह भी गौर करने वाली बात है कि इस घटना पर तमाम एन.जी.ओ.-पंथियों और सुधारवादियों की क्या प्रतिक्रिया रही। तमाम एन.जी.ओ. इन बड़े रिटेल ब्राण्डों को उपदेश देने का दिखावा करते हुए यह सलाह दे रहे हैं कि उन्हें उन्हीं कम्पनियों को अपने काम का ठेका देना चाहिए जो कम-से-कम मज़दूरों की सुरक्षा की गारण्टी तो लेती हों। लेकिन इन्हीं कारखानों में हर रोज़ जिस तरीके से श्रम कानूनों और मानकों का उल्लंघन किया जाता है, उस पर ये तमाम एन.जी.ओ. कभी कुछ नहीं कहते और न ही ये उस शोषण के बारे में ही कुछ कहते हैं जो पूँजीवाद के साथ नाभिनालबद्ध है। मज़दूरों की सुरक्षा के प्रति यह सरोकार भी एक नाटक ही है, क्योंकि

ये तमाम एन.जी.ओ. मज़दूर सुरक्षा को लेकर नसीहतें देने के साथ, परिशिष्ट में यह ज़रूर जोड़ देते हैं कि विदेशी कम्पनियों को बंगलादेश छोड़कर नहीं जाना चाहिए। बस उन्हें सन्त बन जाना चाहिए! मिसाल के तौर पर, साम्राज्यवाद के टुकड़ों पर पलने वाले बंगलादेश के तमाम दल्लों के सरगना मोहम्मद युसुफ़ (ग्रामीण बैंक और माइक्रो फाइनेंस के जनक, जिन्हें न जाने शान्ति का नोबेल पुरस्कार क्यों दिया गया था!) ने गिड़गिड़ाते हुए कहा कि इन बड़े रिटेल ब्राण्डों को बस थोड़ा-बहुत सुरक्षा इन्तज़ामों का खयाल करना चाहिए, लेकिन इस दुर्घटना के बाद उन्हें बंगलादेश छोड़कर किसी दूसरे देश में निवेश नहीं करना चाहिए। इससे बंगलादेश की अर्थव्यवस्था को काफ़ी नुकसान पहुँचेगा और रोज़गार पर भी इसका बुरा असर पड़ेगा।

बंगलादेश की यह दुर्घटना इसी बात को सत्यापित कर रही है कि पूँजीवादी समाज में मज़दूर वर्ग मालिकों द्वारा मुनाफ़ा कमाये जाने का साधन मात्र बनकर रह जाता है। यह घटना पूँजीवाद की इस क्षुद्र सच्चाई का प्रातिनिधिक उदाहरण है कि इस व्यवस्था में मज़दूरों की जान कौड़ियों से भी सस्ती है। गुज़रते एक-एक दिन के साथ पूँजीवाद का आदमखोर चरित्र इसी तरह की घटनाओं को अंजाम देकर अपने नग्नतम रूप में खुद को पेश कर रहा है। बंगलादेश में जो कुछ हुआ वह इसी की बानगी है, इसलिए दुनिया भर में मज़दूर वर्ग के जीने की शर्त पूँजीवाद का अन्त ही है।



# सारदा चिटफण्ड घोटाला: सेंधमार, लुटेरे पूँजीवाद का प्रातिनिधिक उदाहरण

## ● शिशिर

बीते दिनों सारदा चिटफण्ड घोटाले ने पश्चिम बंगाल की राजनीति में तूफान खड़ा कर दिया। ऐसा कई कारणों से हुआ। एक कारण तो यह था कि सारदा चिटफण्ड द्वारा जो चार सौ बीसी की गयी, उसके कारण लाखों छोटे निवेशक और कम-से-कम हजारों एजेण्ट तबाह हो गये। इनमें से कई इतने गरीब निवेशक और एजेण्ट थे, जिनके पास सारदा द्वारा लूटे जाने के बाद कुछ भी नहीं बचा है। क्योंकि उनके पास जो थोड़ी-बहुत पूँजी थी, वह सब उन्होंने सारदा चिटफण्ड की स्कीमों में लगा दी थी। दूसरा कारण, यह था कि सारदा चिटफण्ड के मालिक सुदीप्तो बनर्जी के तृणमूल सरकार के कई अहम मन्त्रियों और स्वयं ममता बनर्जी के साथ करीबी रिश्ते थे। कुछ मन्त्री तो सारदा ग्रुप में महत्वपूर्ण पदों पर भी आसीन थे।

पूरे देश में ही चिटफण्ड कम्पनियों द्वारा आये दिनों छोटे निवेशकों को चूना लगाया जाता है और अलग-अलग राज्यों से लेकर केन्द्र सरकार के स्तर तक कोई ऐसा विनियामक निकाय नहीं है जो कि इन घोटालों पर रोक लगा सके। पश्चिम बंगाल में भी ऐसा कोई नियामक निकाय नहीं था। वामपंथी गठबन्धन सरकार ने दुनिया को दिखाने के लिए ऐसी कम्पनियों पर लगाम कसने के लिए कुछ कानूनों को पास करने की कवायद शुरू की थी, लेकिन वे कभी हकीकत न बन सके। वास्तव में, आज पूँजीवादी व्यवस्था जिस संकट से जूझ रही है, उसमें सरकार स्वयं ऐसी चिटफण्डिया कम्पनियों पर रोक नहीं लगाना चाहती। एक तो सरकार के पास छोटे निवेशकों के लिए बचत की योजनाओं को लागू करने वाली कोई प्रणाली अब नहीं रह गयी है क्योंकि उदारीकरण के दौर में विभिन्न पार्टियों की सरकारों ने स्वयं सुनियोजित तरीके से ऐसी सभी योजनाओं का विध्वंस कर दिया। और दूसरा पहलू यह भी है कि वित्तीय जुएबाज़ी पर सरकार स्वयं ही कोई रोक नहीं लगाना चाहती, न तो बड़े पैमाने की वित्तीय जुएबाज़ी पर और न ही छोटे पैमाने की वित्तीय जुएबाज़ी पर।

सारदा ग्रुप का मालिक सुदीप्तो बनर्जी इस घोटाले के सामने आने के समय से ही फ़रार था। गत 22 अप्रैल को उसे कश्मीर से गिरफ्तार किया गया। इस समूह के काम करने का तरीका एकदम सरल था। इसके एजेण्ट इसकी तमाम स्कीमों के लिए लोगों से निवेश एकत्र किया करते थे। इन निवेशों के बदले में कम्पनी लोगों को ज़मीन या फ्लैट देने का वायदा कर

रही थी, या फिर 10 से 12 प्रतिशत के ब्याज समेत पैसे वापस करने का वायदा कर रही थी। एजेण्टों को उनके द्वारा एकत्र फण्ड पर 15 से 20 प्रतिशत के कमीशन का वायदा किया जाता था। कुछ स्कीमों तो ऐसी भी थीं जिनमें यह कहा गया था कि आप 1 लाख रुपये निवेश करें और 14 वर्ष बाद 10 लाख रुपये प्राप्त करें। राष्ट्रीय बैंकों या निजी बैंकों में फिक्स्ड डिपॉजिट बनवाने पर भी इतनी रकम पर इतने ही समय बाद 4 लाख रुपये ही मिलते। इन लालच पैदा करने वाली पेशकशों के जवाब में सारदा ग्रुप में कई हजार करोड़ रुपये छोटे निवेशकों से इकट्ठा किये। इस रकम के बूते पर सारदा ग्रुप ने करीब 160 कम्पनियाँ बनायीं जिनमें कई मीडिया कम्पनियाँ भी शामिल थीं। पश्चिम बंगाल में कई अखबार और समाचार चैनल सारदा ग्रुप के नियन्त्रण में थे और ये सभी मीडिया चैनल और अखबार एकदम नंगे तरीके से तृणमूल कांग्रेस का प्रचार करते थे। इसके साथ ही, सारदा ग्रुप ने अपने एजेण्टों को आखिरी चुनावों में आदेश दिया था कि वे ज़ोर-शोर से तृणमूल कांग्रेस का प्रचार करें! तृणमूल कांग्रेस के तमाम मन्त्री व नेता सारदा ग्रुप के मालिक सुदीप्तो बनर्जी से करीबी रिश्ता रखते थे। गिरफ्तार होने के बाद सुदीप्तो बनर्जी ने सी.बी.आई. को बताया है कि इन मन्त्रियों ने सुदीप्तो बनर्जी से कहा था कि अगर सारदा ग्रुप उन्हें मालामाल करता है, तो तृणमूल सरकार सारदा ग्रुप को अपना संरक्षण देना जारी रखेगी। सुदीप्तो बनर्जी शुरू से जानता था कि वह लोगों के साथ फ्रॉड कर रहा है और वास्तव में सारदा ग्रुप एक पांजी स्कीम है, जिसका मकसद है लोगों को ठगना। जाहिर है कि तृणमूल कांग्रेस के नेता-मन्त्री भी इस बात से वाकिफ़ थे। यही कारण है कि सारदा चिटफण्ड घोटाले के सामने आने के बाद ममता बनर्जी ने तबाह हुए निवेशकों को सलाह दी, “जो चला गया उसे भूल जाओ!” अभी भी सारदा चिटफण्ड घोटाले के कारण सारदा ग्रुप और सरकार पर लोगों का जो गुस्सा फूट रहा है, सरकार उसे कम करने और साथ ही कम दिखलाने की कोशिश कर रही है। लेकिन स्पष्ट है, कि यह अब तक के सबसे बड़े चिटफण्ड घोटालों में से एक है।

कोई भी सारदा ग्रुप द्वारा पेश की गयी स्कीमों को देखे तो यह बता सकता है कि सारदा ग्रुप निवेश के बदले में जिन चीज़ों का वायदा कर रहा था, वह एकदम असम्भव और कतई अयथार्थवादी था। लेकिन इसके बावजूद लोग इसके तरफ़

आकर्षित क्यों हुए? लोग ऐसी बेतुकी स्कीमों पर यकीन करने को तैयार क्यों थे?

इसका सबसे पहला कारण तो यह था उदारीकरण और निजीकरण के करीब ढाई दशकों के दौरान सरकार छोटी बचत के लिए चलायी जाने वाली सारी योजनाओं को या तो बन्द कर चुकी है और या फिर उन्हें अनाकर्षक बनाकर निष्प्रभावी बना चुकी है। चूँकि छोटी बचत के लिए चलने वाली सारी योजनाएँ गरीब और निम्न मध्यवर्ग के लोगों के लिए थीं, इसलिए अब उनके पास कोई और विकल्प नहीं बचा कि वे निजी क्षेत्र की तमाम चिटफण्ड कम्पनियों और वित्तीय क्षेत्र में काम करने वाली छोटी कम्पनियों के पास जाएँ। इसका कारण यह है कि इस आबादी के पास आम तौर पर बैंक में खाता खुलवाने और उसे कायम रखने योग्य रकम होती ही नहीं। सरकार ने भी इन छोटी कम्पनियों को बेलाग-लपेट अपनी कार्रवाईयाँ चलाने की छूट दी क्योंकि वह खुद इस जिम्मेदारी से पीछे हट रही थी, हालाँकि सरकार हमेशा से यह जानती थी कि इनमें से अधिकांश कम्पनियाँ फ्राँड होती हैं। 1980 के दशक से अब तक धीरे-धीरे विभिन्न सरकारों ने छोटी बचत की योजनाओं में ब्याज दर को इतना कम कर दिया कि उनका कोई लाभ नहीं रह गया। कुछ योजनाएँ तो बन्द भी हो गयीं। इसका एक कारण यह भी था कि सरकार बैंक व बीमा क्षेत्र को निजी पूँजी के लिए खोल रही थी, और अगर ये बचत योजनाएँ चलती रहतीं तो वे हमेशा वित्त के क्षेत्र में निजी पूँजी के लिए एक गम्भीर चुनौती होतीं। इसलिए सरकार ने सोची-समझी नीति के तहत निजी पूँजी के निर्देशों पर उन सभी छोटी बचत योजनाओं को खत्म कर दिया जो गरीब और निम्न मध्यमवर्गीय लोगों को एक मामूली-सी राहत दिया करती थीं।

लेकिन दूसरा कारण निम्न मध्यमवर्ग या टटपूँजिया वर्गों की अपनी प्रवृत्ति भी है, जिसके बारे में लेनिन ने एक बार लिखा था, कि एक टटपूँजिया वर्गीय व्यक्ति हमेशा यह सोचता है कि “उसने पैसे बनाये, अब मुझे भी पैसे बनाने का मौका मिलना चाहिए।” हम सारदा ग्रुप द्वारा पेश हवाई स्कीमों पर लोगों द्वारा भरोसा किया जाने के लिए सिर्फ सरकार को दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। यह टटपूँजिया वर्ग की वर्ग प्रवृत्ति भी है जिसमें वह तुरत-फुरत पैसा बना लेने के लिए एक साथ कई छोटी-छोटी योजनाओं पर काम करता रहता है। न तो वह उसमें जी पाता है और न ही मर पाता है। स्वयं अपना जीवन भी इन तमाम योजनाओं के तनाव में नर्क बना लेता है और अपने परिवार वालों के जीवन को भी नर्क बना देता है। सभी जानते हैं कि जब सरकार ब्याज दरों को नीचे कर रही है, उस समय कोई चिटफण्ड कम्पनी ऐसी ऊँची ब्याज दरें कैसे दे सकती है? लेकिन लाभ कमा लेने की एक क्षीण आशा भी निम्न पूँजीपति वर्ग के लाखों लोगों को ठग लेने के लिए पर्याप्त होती है। पूँजीपतियों और ठगों-बटमारों में कोई ज़्यादा फर्क नहीं रह गया है। उनसे अच्छे नैतिक आचारों और ईमानदारी की उम्मीद करना तो अव्वल दर्जे की मूर्खता होगी। इसलिए सारदा ग्रुप के संघमारां और उठाईगीरों ने वही किया, जिसकी

उनसे उम्मीद की जा सकती है। पहले भी उन्होंने बार-बार यही किया है और वे अब भी यही कर रहे हैं। लेकिन निम्न पूँजीपति वर्ग के लोगों ने लाखों की तादाद में इन मज़ाकिया स्कीमों पर भरोसा क्यों किया इसे समझने के लिए इस वर्ग के चरित्र को समझने की भी ज़रूरत है। यह वर्ग न पूरी तरह आबाद होता है और न ही पूरी तरह बरबाद होता है। नतीजतन, इसकी राजनीतिक वर्ग चेतना भी अधर में लटकी होती है। अपनी राजनीतिक माँगों के लिए संगठित होने और सरकार की नीतियों के लिए जनता के अन्य मेहनतकश हिस्सों के साथ संगठित होकर आवाज़ उठाने की बजाय अधिकांश मामलों में वह पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकारों द्वारा पेश किये जा रहे दावों और वायदों पर भरोसा कर बैठता है। और जब उसे इसका खामियाजा भुगताना पड़ता है तो वह काफ़ी छाती पीटता है और शोर मचाता है। सारदा ग्रुप जैसी फ्राँड कम्पनियों की स्कीमों के निशाने पर ये ही वर्ग होते हैं, जो परिवर्तन और बदलाव की मुहिम के दुलमुल्यकीन मित्र होते हैं। जब परिवर्तन की ताकतें उफान पर होती हैं, तो ये उनके पीछे चलते हैं और जब माहौल यथास्थितिवादी ताकतों के पक्ष में होता है, तो ये अपने निजी, व्यक्तिगत हित साधने में व्यस्त रहते हैं और व्यवस्था को एक प्रकार से मौन समर्थन देते हैं।

सारदा ग्रुप जैसी फ्राँड कभी भी सरकारी समर्थन के बिना नहीं हो पाते। इस मामले में भी तृणमूल कांग्रेस की सरकार ने, जो कि “माँ, माटी, मानुष” का नारा उठाते हुए सत्ता में आयी थी और जिस पर तमाम वामपंथी दुस्साहसवादी भी निहाल हो गये थे, सारदा ग्रुप की जालसाजी को पूरा संरक्षण दिया। सारदा ग्रुप के मीडिया विंग के सी.ई.ओ. कृणाल घोष और सारदा ग्रुप के अखबार ‘प्रतिदिन’ के मालिक सृजय बोस तृणमूल कांग्रेस के सांसद हैं। सारदा ग्रुप के सभी मीडिया उपक्रम तृणमूल कांग्रेस का प्रचार करने वाले भोंपू का काम लम्बे समय से कर रहे हैं। बदले में तृणमूल कांग्रेस की सरकार ने सभी सार्वजनिक पुस्तकालयों को निर्देश दिया कि वे सारदा ग्रुप के सभी अखबारों को खरीदेंगे। 2011 में सारदा ग्रुप के पैसे से खरीदी हुई मोटरसाईकिलें, साईकिलें और एम्बुलेंस ममता बनर्जी ने माओवादी पार्टी के प्रभाव क्षेत्र जंगलमहल में वितरित किये। सारदा ग्रुप के मालिक सुदीप्तो बनर्जी ने ममता बनर्जी की एक पेण्टिंग 1.86 करोड़ रुपये में खरीदी। तृणमूल कांग्रेस के परिवहन मन्त्री मदन मित्रा को सारदा ग्रुप ने अपनी कर्मचारी यूनियन का अध्यक्ष नियुक्त किया, जिन्होंने बदले में एक कार्यक्रम में सुदीप्तो बनर्जी को पश्चिम बंगाल का गौरव बताया! ममता बनर्जी स्वयं 15 अप्रैल तक कहीं भी यह मानने को तैयार नहीं थीं कि सारदा ग्रुप एक चिटफण्ड है, जबकि सचिन पायलट ने पहले ही पश्चिम बंगाल में चल रही ऐसी 73 पांजी स्कीमों का नाम संसद में पेश किया था, जिसमें सारदा ग्रुप का नाम भी शामिल था। गिरफ्तारी के बाद सुदीप्तो बनर्जी ने सरकार के साथ अपने लेन-देन के रिश्तों का खुलासा किया और अब पूरी सच्चाई सामने आ चुकी है।

(पेज 16 पर जारी)

# काँ. शालिनी नहीं रहीं सामाजिक परिवर्तन की वैचारिक-सांस्कृतिक बुनियाद खड़ी करने को समर्पित एक ऊर्जस्वी जीवन का अन्त!

युवा क्रान्तिकारी और जनमुक्ति समर की वैचारिक-सांस्कृतिक बुनियाद खड़ी करने के अनेक क्रान्तिकारी उपक्रमों की एक प्रमुख संगठनकर्ता काँमेरेड शालिनी नहीं रहीं। पिछले 29 मार्च की रात को दिल्ली के धर्मशिला कैंसर अस्पताल में उनका निधन हो गया। वे सिर्फ 38 वर्ष की थीं। जनवरी 2013 के दूसरे सप्ताह में लखनऊ में कैंसर होने का पता चलते ही उन्हें इलाज के लिए दिल्ली के धर्मशिला कैंसर अस्पताल लाया गया था, जहाँ डॉक्टरों ने बताया



था कि पैक्रियास का कैंसर काफी उन्नत अवस्था में पहुँच चुका है और मेटास्टैसिस शुरू हो चुका है तथा एलोपैथी में इसका पूर्ण इलाज सम्भव नहीं है। वे केवल दर्द से राहत देने और उम्र को लम्बा खींचने के लिए उपचार कर सकते हैं। हालाँकि धर्मशिला कैंसर अस्पताल के डॉक्टरों से बात करके वैकल्पिक उपचार की दो

पद्धतियों से भी उनका उपचार साथ-साथ चल रहा था। काँ. शालिनी शुरू से ही पूरी स्थिति से अवगत थीं और अद्भुत जिजीविषा, साहस और खुशमिजाजी के साथ रोग से लड़ रही थीं।

काँ. शालिनी 'जनचेतना' पुस्तक प्रतिष्ठान की सोसायटी की अध्यक्ष, 'अनुराग ट्रस्ट' के न्यासी मण्डल की सदस्य, 'राहुल फाउण्डेशन' की कार्यकारिणी सदस्य और परिकल्पना प्रकाशन की निदेशक थीं। प्रगतिशील, जनपक्षधर और क्रान्तिकारी

साहित्य के प्रकाशन तथा उसे व्यापक जन तक पहुँचाने के काम को भारत में सामाजिक बदलाव के संघर्ष का एक बेहद ज़रूरी मोर्चा मानकर वे पूरी तल्लीनता और मेहनत के साथ इसमें जुटी हुई थीं। अपने छोटे-से जीवन के अठारह वर्ष उन्होंने विभिन्न मोर्चों पर सामाजिक-राजनीतिक कामों को समर्पित किये।



बलिया में 1974 में जन्मी कामरेड शालिनी का राजनीतिक जीवन बीस साल की उम्र में ही शुरू हो गया, जब 1995 में लखनऊ से गोरखपुर जाकर उन्होंने एक माह तक चली एक सांस्कृतिक कार्यशाला में और फिर 'शहीद मेला' के आयोजन में हिस्सा लिया। इसके बाद वह गोरखपुर में ही युवा महिला कॉमरेडों के एक कम्प्यून में रहने लगीं। तीन वर्षों तक कम्प्यून में रहने के दौरान शालिनी स्त्री मोर्चे पर, सांस्कृतिक मोर्चे पर और छात्र मोर्चे पर काम करती रहीं। इसी दौरान उन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय से प्राचीन इतिहास में एम.ए. किया। एक पूरावकृती क्रान्तिकारी कार्यकर्ता के रूप में काम करने का निर्णय वह 1995 में ही ले चुकी थीं।

1998-99 के दौरान शालिनी लखनऊ आकर राहुल फ़ाउण्डेशन से मार्क्सवादी साहित्य के प्रकाशन एवं

अन्य गतिविधियों में भागीदारी करने लगीं। 1999 से 2001 तक उन्होंने गोरखपुर में 'जनचेतना' पुस्तक प्रतिष्ठान की जिम्मेदारी सँभाली। इसी दौरान गोरखपुर में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा में काम करते हुए शालिनी जन अभियानों, आन्दोलनों, धरना-प्रदर्शनों आदि में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती रहीं। वे एक कुशल अभिनेत्री भी थीं और अनेक मंचीय तथा नुक्कड़ नाटकों में उन्होंने काम किया। जनचेतना पुस्तक केन्द्र में बैठने के साथ ही वे अन्य साथियों के साथ झोलों में किताबें और पत्रिकाएँ लेकर घर-घर और कालेजों-दफ़्तरों में जाती थीं, लोगों को प्रगतिशील साहित्य के बारे में बताती थीं, नये पाठक तैयार करती थीं। नवम्बर 2002 से दिसम्बर 2003 तक उन्होंने इलाहाबाद में 'जनचेतना' की प्रभारी के रूप में काम किया। इस दौरान भी अन्य स्त्री कार्यकर्ताओं की टीम के साथ वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रों के बीच और इलाहाबाद शहर में युवाओं तथा नागरिकों के बीच विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेती रहीं। इलाहाबाद के अनेक लेखक और संस्कृतिकर्मी आज भी उन्हें याद करते हैं।

2004 से लेकर दिसम्बर 2012 के अन्त में बीमार होने तक वह लखनऊ स्थित 'जनचेतना' के केन्द्रीय कार्यालय और पुस्तक प्रतिष्ठान का काम सँभालती रहीं। इसके साथ ही वह 'परिकल्पना,' 'राहुल फ़ाउण्डेशन' और 'अनुराग ट्रस्ट' के प्रकाशन सम्बन्धी कामों में भी हाथ बँटाती रहीं। 'अनुराग ट्रस्ट' के मुख्यालय की गतिविधियों (पुस्तकालय, वाचनालय, बाल कार्यशालाएँ



एक अभियान के दौरान कॉ. शालिनी

आदि) की जिम्मेदारी उठाने के साथ ही काँ. शालिनी ने ट्रस्ट की वयोवृद्ध मुख्य न्यासी दिवंगत काँ. कमला पाण्डेय की जिस लगन और लगाव के साथ सेवा और देखभाल की, वह कोई सच्चा सेवाभावी कम्युनिस्ट ही कर सकता था। 2011 में 'अरविन्द स्मृति न्यास' का केन्द्रीय पुस्तकालय लखनऊ में तैयार करने का जब निर्णय लिया गया तो उसकी व्यवस्था की भी मुख्य जिम्मेदारी शालिनी ने ही उठायी।

गौरतलब है कि इतनी सारी विभागीय जिम्मेदारियों के साथ ही शालिनी आम राजनीतिक प्रचार और आन्दोलनात्मक सरगर्मियों में भी यथासम्भव हिस्सा लेती रहती थीं।

बीच-बीच में वह लखनऊ की ग़रीब बस्तियों में बच्चों को पढ़ाने भी जाती थीं। लखनऊ के हज़रतगंज में रोज़ शाम को लगने वाले जनचेतना के स्टॉल पर पिछले कई वर्षों से सबसे ज़्यादा शालिनी ही खड़ी होती थीं।



एक कुशल सांस्कृतिक कार्यकर्ता थीं काँ. शालिनी

काँ. शालिनी एक ऐसी

कर्मठ, युवा कम्युनिस्ट संगठनकर्ता थीं, जिनके पास अठारह वर्षों के कठिन, चढ़ावों-उतारों भरे राजनीतिक जीवन का समृद्ध अनुभव था। कम्युनिज़्म में अडिग आस्था के साथ उन्होंने एक मजदूर की तरह खटकर राजनीतिक काम किया। इस दौरान, समरभूमि में बहुतों के पैर उखड़ते रहे। बहुतेरे लोग समझौते करते रहे, पतन के पंककुण्ड में लोट लगाने जाते रहे, घोंसले बनाते रहे, दूसरों को भी दुनियादारी का पाठ पढ़ाते रहे या अवसरवादी राजनीति की दुकान चलाते रहे। शालिनी इन सबसे रतीभर भी प्रभावित हुए बिना अपनी राह चलती रहीं। एक बार जीवन लक्ष्य तय करने के बाद पीछे मुड़कर उन्होंने कभी कोई समझौता नहीं किया। यहाँ तक कि उनके पिता ने

भी जब निहित स्वार्थ और वर्गीय अहंकार के चलते पतित होकर कुत्सा-प्रचार और चरित्र-हनन का मार्ग अपनाया तो उनसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने में शालिनी ने पल भर की भी देरी नहीं की। एक व्यापारी और भूस्वामी परिवार की पृष्ठभूमि से आकर, शालिनी ने जिस दृढ़ता के साथ सम्पत्ति-सम्बन्धों से निर्णायक विच्छेद किया और जिस निष्कपटता के साथ कम्युनिस्ट जीवन-मूल्यों को अपनाया, वह आज जैसे समय में दुर्लभ है और अनुकरणीय भी।

शालिनी की उसूली दृढ़ता हमेशा अकुण्ठ-निष्कम्प रही। कामों की जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए

अनुशासन में बेहद कठोर, पर लगाव और सरोकार के मामले में उतनी ही सहृदय। शालिनी मौत के खतरे के सामने भी उतनी ही ज़िद के साथ खड़ी रहीं, जैसे वह अपने लक्ष्य के शत्रुओं और राह की बाधाओं के विरुद्ध खड़ी रही थीं।

असहनीय पीड़ा,

अनिद्रा की थकान और कमज़ोरी के बीच जब थोड़ी ऊर्जा संचित हो जाती तो वह कामों की समस्याओं और भविष्य की योजनाओं की बातें करती थीं। उन्हें अन्त तक विश्वास था कि वह कैंसर को पराजित कर देंगी। आखिर तक वह अपने से ज़्यादा यह चिन्ता करती रहीं कि उनकी तीमारदारी में साथियों को कितना श्रम और समय लगाना पड़ता है और इससे कामों का कितना नुक़सान होता है! फिर भी, शालिनी का संघर्ष 'आनन्द' फिल्म के नायक जैसा रोमानी आशावादी नहीं था, न ही 'सफ़र' के नायक जैसा उदासी भरा था। 'अग्निदीक्षा' उपन्यास का लेखक निकोलाई ओस्त्रोवस्की उनका प्रेरणा स्रोत था और उसके पत्रों-लेखों की पुस्तक 'जय जीवन'

का. शालिनी के लिए बने ब्लॉग का लिंक:

<http://www.shaliniatchetna.blogspot.in>

## वास्तविक मानव

( ए.ई. बुलहाक के नाम एफ. जर्जिन्स्की का पत्र, 16 जून, 1913 )

फूल की तरह ही, मानव-आत्मा भी अचेतन रूप से सूर्य की किरणों का पान करती रहती है और शाश्वत रूप से उसकी, उसके प्रकाश की कामना करती रहती है। जब कोई बुराई प्रकाश को उसके पास तक पहुँचने से रोक देती है तो वह मुरझा और सूख जाती है। मानवजाति के लिए अधिक सुन्दर भविष्य का निर्माण करने से सम्बन्धित हमारी प्रेरणा और निष्ठा का आधार प्रत्येक मानव आत्मा द्वारा प्रकाश प्राप्त करने की यही आन्तरिक चेष्टा है; और, इसलिए, अपने पास निराशा को कभी नहीं हमें फटकने देना चाहिए। मानवजाति की सबसे बड़ी बुराई आज पाखण्ड है : शब्दों में प्रेम की बात करना, किन्तु व्यवहार में – जीवन के लिए, तथाकथित “सुख” की प्राप्ति के लिए, पदोन्नति हासिल करने के लिए निर्मम संघर्ष करना...

दूसरों के लिए प्रकाश की एक किरण बनना, दूसरों के जीवन को दैदीप्यमान करना, यह सबसे बड़ा सुख है जो मानव प्राप्त कर सकता है। इसके बाद कष्टों अथवा पीड़ा से, दुर्भाग्य अथवा अभाव से मानव नहीं डरता। फिर मृत्यु का भय उसके अन्दर से मिट जाता है, यद्यपि, वास्तव में, जीवन को प्यार करना वह तभी सीखता है। और, केवल तभी पृथ्वी पर आँखें खोलकर वह इस तरह चल पाता है जिससे वह सब कुछ देख, सुन और समझ सके; केवल तभी अपने संकुचित घोंघे से निकलकर वह बाहर प्रकाश में आ सकता है और समस्त मानवजाति के सुखों और दुखों का अनुभव कर सकता है। और केवल तभी वह वास्तविक मानव बन सकता है।

( 21 फरवरी, 2013 को ब्लॉग पर पोस्ट )

उनकी प्रिय पुस्तकों में से एक थी। बीमारी की गम्भीरता का पता लगने के बाद जनवरी के अन्त में उन्होंने ब्लॉग (<http://www.shaliniatchetna.blogspot.com>) पर अपना अन्तिम-इच्छा पत्र लिखा था, जिसे हर संवेदनशील पाठक को पढ़ना ही चाहिए।

काँ. शालिनी का जीवन, क्रान्तिकर्म के प्रति उनका एकनिष्ठ समर्पण, अपने निजी सुख-दुख और स्वप्नों-आकांक्षाओं को पूरी तरह जनमुक्ति संग्राम में अपनी भूमिका के अधीन कर देने की उनकी प्रतिबद्धता और कम्युनिस्ट जीवन मूल्यों तथा संस्कारों के प्रति उनका अटूट विश्वास आज के दौर में एक मिसाल है। रूसी क्रान्तिकारी फ़ेलिक्स जर्जिन्स्की की इन पंक्तियों को उन्होंने अपने जीवन में उतार लिया था:

“दूसरों के लिए प्रकाश की एक किरण बनना,

दूसरों के जीवन को दैदीप्यमान करना, यह सबसे बड़ा सुख है जो मानव प्राप्त कर सकता है। इसके बाद कष्टों अथवा पीड़ा से, दुर्भाग्य अथवा अभाव से मानव नहीं डरता। फिर मृत्यु का भय उसके अन्दर से मिट जाता है, यद्यपि, वास्तव में जीवन को प्यार करना वह तभी सीखता है। और, केवल तभी पृथ्वी पर आँखें खोलकर वह इस तरह चल पाता है कि जिससे कि वह सब कुछ देख, सुन और समझ सके; केवल तभी अपने संकुचित घोंघे से निकलकर वह बाहर प्रकाश में आ सकता है और समस्त मानवजाति के सुखों और दुःखों का अनुभव कर सकता है। और केवल तभी वह वास्तविक मानव बन सकता है।”

– कविता

## ‘नकद सब्सिडी योजना’ - एक गरीब विरोधी योजना

# यह योजना महज चुनावी कार्यक्रम नहीं बल्कि व्यापारियों का मुनाफा और बढ़ाने की योजना है

### ● योगेश

केन्द्र में रिकॉर्ड-तोड़ घपलों-घोटालों और कई तरह के भ्रष्टाचार से घिरी कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार भी 2014 के चुनावों से पहले अपने दाग-धब्बों को नयी-नयी लोकलुभावन योजनाओं से छुपाने के प्रयास में लग गई है। आपको याद होगा कि पिछले साल अगस्त में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने घोषणा की थी कि हर गरीब आदमी तक कुछ फ्री टॉक-टाइम के साथ एक मोबाइल फोन पहुँचाया जायेगा। इसी क्रम में 15 दिसम्बर, 2012 से दिल्ली में और 1 जनवरी, 2013 से देश के 51 जिलों में ‘नकद सब्सिडी योजना’ को लागू किया गया। केन्द्र सरकार ने घोषणा की कि सार्वजनिक सुविधाओं में मिलने वाली सब्सिडी को अब से आधार कार्ड के माध्यम से बैंकों में नकद हस्तान्तरण किया जायेगा। खाद्य सुरक्षा हेतु प्रत्यक्ष नकदी हस्तान्तरण योजना को केन्द्र सरकार द्वारा क्रान्तिकारी योजना के रूप में प्रचारित करने के पीछे तर्क है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी.डी.एस.) में बहुत ही घपला होता है; पर इस योजना के तहत अब सीधे सब्सिडी का पैसा प्रत्येक व्यक्ति के खाते में आने से सरकारी सेवाओं में दलाली, भ्रष्टाचार, फर्जी निकासी, बर्बादी और चोरी से मुक्ति मिलेगी। इस परियोजना के अन्तर्गत वृद्धावस्था और विधवा पेंशनों, मातृत्व लाभ और छात्रवृत्ति जैसी 34 योजनाएँ आती हैं; यह खाद्य, स्वास्थ्य सुविधाओं और ईंधन तथा खाद्य सब्सिडियों के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी.डी.एस.) जैसी तमाम योजनाओं को आधार-आधारित नकद हस्तान्तरण (आ.आ.न.ह.) के माध्यम से लोगों को दिया जायेगा। पिछले साल 15 दिसम्बर को दिल्ली की कांग्रेस सरकार ने अन्नश्री योजना की शुरुआत करते हुए घोषणा की कि खाद्य सुरक्षा हेतु प्रत्यक्ष नकदी अन्तरण योजना के अन्तर्गत दिल्ली के पन्द्रह लाख परिवारों को खाद्य सामग्री खरीदने के लिए प्रति माह 600 रु. दिए जायेंगे। दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने बड़ी बेशर्मी के साथ कहा कि पाँच लोगों के परिवार की खाद्य सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने के 600 रु. मासिक काफी हैं। यानी प्रति व्यक्ति-प्रति दिन के हिसाब से 4 रु.; अब 4 रु. में कोई व्यक्ति क्या खाना खायेगा यह तो खुद शीला दीक्षित ही बता सकती हैं। असलियत यह है कि महज ज़िन्दा रहने के लिए एक परिवार को खाद्य पदार्थ खरीदने के लिए नकद दी जा रही राशि से पाँच गुने की ज़रूरत है। गौरतलब है कि दिल्ली में इस साल के अन्त से पहले विधानसभा चुनाव हैं और 2014 में लोकसभा के चुनाव हैं। चुनावों से पहले इस योजना की घोषणा करना

वोट बैंक बढ़ाने की कोशिश तो है ही; साथ ही इस योजना का खतरनाक पहलू यह भी है कि आने वाले समय में इस योजना के माध्यम से सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी.डी.एस.) के रहे-सहे ढाँचे को भी निर्णायक तरीके से ध्वस्त करके खाद्यान्न क्षेत्र को पूरी तरह बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर दिया जायेगा; जिससे साफ तौर पर इस क्षेत्र के व्यापारियों के मुनाफे में कई गुना की बढ़ोतरी होगी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दुर्दशा के विकल्प में इस योजना की शुरुआत करते हुए कहा गया कि इस योजना के तहत लाभार्थियों को अपनी ज़रूरत के मुताबिक खाद्य पदार्थ और अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने का विकल्प मिल गया है। जिस योजना को सरकार गरीब लोगों के लिए बढ़िया बता रही है; उस पर लोगों की राय अलग है। एक सर्वेक्षण से पता चला कि 90 फीसदी से ज्यादा गरीब लोग नकद हस्तान्तरण के मुकाबले खाद्य पदार्थ सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी.डी.एस.) से लेना पसन्द करते हैं। इस योजना के तहत बैंकिंग स्टॉफ (कॉरिस्पोंडेंट्स) को पूरी तरह ईमानदार माना गया है; जबकि वे गरीबों के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त और उनके विरोधी हो सकते हैं। इस योजना को देश के जिन जिलों में प्रयोग के तौर पर लागू किया गया वहाँ के अनुभव नकारात्मक ही हैं। झारखण्ड के रामगढ़ जिले में मनरेगा के अन्तर्गत भुगतान आ.आ.न.ह. के अधीन किए गये थे। इसके भयानक परिणाम सामने आये जिला प्रशासन काम के बोझ को सम्भाल ही नहीं सका। आबादी का वो अनुपात जिससे यूआईडी संख्याएँ और कल्याणकारी योजनाओं के विवरण मेल खाते, दो फीसदी से भी कम था। इलाके के बैंक कर्मचारी के अनुसार मनरेगा के आधे मजदूरों की उंगलियों के निशान मेल नहीं खाते हैं। रामगढ़ के एक ब्लॉक में 8,231 “सक्रिय” कार्ड धारकों में से केवल 162 को ही आधार कार्ड के जरिये भुगतान हो पाया। झारखण्ड में इस योजना के असफल होने का यह अर्थ नहीं कि यहाँ की नौकरशाही अक्षम है; विफलता का एक अन्य उदाहरण राजस्थान के अलवर जिले के एक सम्पन्न गाँव में सामने आया। एक साल पहले सरकार ने कोटकासिम गाँव के 25,843 राशनकार्ड धारकों को 15.25 रु. लीटर की दर से मिट्टी का तेल बेचना बन्द कर दिया और इसकी जगह उनसे 49.10 प्रति लीटर की बाज़ार दर से पैसे वसूल किए। इस अन्तर को प्रत्येक तीने महीने में उनके खाते में जमा किया जाना था। लेकिन उस क्षेत्र में बैंक की शाखा औसतन तीन किलोमीटर दूर है और कुछेक के लिए तो यह दूरी 10 किलोमीटर तक है।

इसलिए बैंक कुल परिवारों का केवल 52 फीसदी ही खाता खुलवा पाए; बाकी तो इस योजना से ही बाहर हो गए। कुछ परिवारों को मूल्य में अन्तर की पहली किस्त मिली और उसके बाद कुछ नहीं मिला और ज़्यादातर को तो पूरे साल कुछ नहीं मिला। इस बीच मिट्टी के तेल की बिक्री 84,000 लीटर से घटकर सिर्फ 5000 लीटर रह गई यानी 94 फीसदी कम हो गई। लोगों को सूखी टहनियाँ, कपास और सरसों के डंठलों या खरपतवार को जला कर काम चलाना पड़ा। ब्रिटेन, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, चीन, कनाडा और जर्मनी में भी इस तरह की योजनाओं के परिणाम खराब आने के बाद उसे रोक दिया गया। आधार आधारित नकद हस्तान्तरण की योजना न केवल बेहद खर्चीली है (अनुमानतः 45,000 -1,50,000 करोड़ रुपये) बल्कि वास्तव में इसके अन्तर्गत पात्र लाभार्थियों को बाहर रखने और अपात्रों को गलत ढंग से शामिल किए जाने की पूरी सम्भावना है। सरकार ने गरीब परिवारों की सूची बनाने का काम कुछ एन.जी.ओ. को सौंपा है। दिल्ली में यह काम जी. आर.सी. के माध्यम से अलग-अलग एन.जी.ओ. को दिया गया।

यहीं दिल्ली के कच्ची खजूरी इलाके में अन्नश्री योजना के तहत कई ऐसे लोग शामिल किए गये हैं जिनका दिल्ली में अपना घर है और वे किसी अच्छी नौकरी में लगे हुए हैं। जबकि इस इलाके के सैकड़ों मजदूरों के परिवारों का इस योजना की सूची में नाम लिखा ही नहीं गया। इस योजना के लागू होने के बाद लोगों को सबसे बड़ा डर है कि महँगाई में क्या होगा ? सरकार कह रही है कि पैसों की राशि महँगाई से जोड़ी जायेगी। लेकिन असलियत यह होगी कि सरकार तभी पैसा बढ़ायेगी जब चुनाव नज़दीक होंगे-इसके अलावा नहीं बढ़ायेगी; जबकि बाज़ार में हर रोज़ खाद्य सामग्री की कीमतें बढ़ती ही जायेंगी। नकद हस्तान्तरण से परिचलन में भारी मात्रा

में पैसा आएगा जिससे मुद्रास्फीति बढ़ेगी और लोगों की क्रय शक्ति कम हो जायेगी। इस योजना का विपक्ष में बैठी भाजपा व अन्य कई चुनावी पार्टियों ने दिखावटी विरोध किया है। स्वयं पूँजीपतियों की सेवा करने वाली ये पार्टियाँ सिर्फ इतना कह रही हैं कि इस योजना को चुनावों के कारण बिना तैयारी के घोषित किया गया। यानी इनके मुताबिक अच्छी तैयारी के साथ इस गरीब-विरोधी योजना को लागू किया जाये तो ज़्यादा अच्छा रहेगा। अब इस सच्चाई को गरीब लोग भी समझने लगे हैं कि सरकार किसी भी चुनावी पार्टी की बने सबको अपने-अपने तरीके से पूँजीपतियों की सेवा के लिए योजनाएँ बनानी है।

यह बात सही है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पी. डी.एस.) में कई कमियाँ हैं। सबसे बड़ी कमी है गरीबी रेखा का निर्धारण ही सही तरीके से नहीं किया गया है। मौजूदा गरीबी रेखा हास्यास्पद है। उसे भुखमरी रेखा कहना अधिक उचित होगा। पौष्टिक भोजन के अधिकार को जीने के मूलभूत सवैधानिक अधिकार का दर्ज़ा दिया जाना चाहिए तथा इसके लिए प्रभावी क़ानून बनाये जाने चाहिए। इसके लिए ज़रूरी है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली का ही पुनर्गठन किया जाए और अमल की निगरानी के लिए ज़िला स्तर तक प्रशासनिक अधिकारी के साथ-साथ लोकतान्त्रिक ढंग से चुनी गयी नागरिक समितियाँ हों। पर किसी पूँजीवादी व्यवस्था से ऐसी उम्मीद कम ही है; भारत समेत पूरी दुनिया जिस आर्थिक मंदी से गुज़र रही है ऐसे समय में ऐसी नीतियों का बनना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस देश के आम लोगों के लिए खाद्य सुरक्षा को सही मायने में लागू करवाने के लिए छात्र-नौजवानों और नागरिकों का दायित्व है कि ऐसी योजनाओं की असलियत को उजागर करते हुए देश की जनता को शासक वर्ग की इस धूर्ततापूर्ण चाल के बारे में आगाह करें जिससे कि एक कारगर प्रतिरोध खड़ा किया जा सके।

## सारदा चिटफण्ड घोटाला: सेंधमार, लुटेरे पूँजीवाद का प्रातिनिधिक उदाहरण

(पेज 9 से जारी)

लेकिन केन्द्रीय एजेंसियाँ भी इस पूरी जालसाजी से अपना पल्ला नहीं झाड़ सकती हैं। कम्पनी पंजीकरण कार्यालय से लेकर सेबी तक अब तरह-तरह के बहाने पेश कर रहे हैं। किसी का कहना है कि उन्हें इतने बड़े पैमाने पर फण्ड एकत्र किये जाने की जानकारी नहीं दी गयी; अन्यो का कहना है कि सारदा ग्रुप इस प्रकार की स्कीमें चलायेगा इसकी जानकारी उन्हें नहीं दी गयी; इसी प्रकार के बहाने केन्द्रीय एजेंसियों द्वारा पेश किये जा रहे हैं। लेकिन सच्चाई तो यह है कि इस प्रकार के वित्तीय फ़ॉण्ड का खेल देश में हज़ारों कम्पनियाँ खेल रही हैं, और इन सभी के निशाने पर गरीब और निम्न मध्यमवर्गीय आबादी है। सरकार को इन पर लगाम कसने की कोई फ़िक्र नहीं है। उल्टे सरकार की जानकारी में इस प्रकार की सभी स्कीमें और कम्पनियाँ काम कर रही हैं। पूँजीवाद आज अपनी

मरणासन्न अवस्था के उस दौर में है जिसमें वह स्वयं एक नग्न जुए में तब्दील हो चुका है। विश्व में जारी आर्थिक संकट के जड़ में भी एक कैसीनो अर्थव्यवस्था ही है। बड़े से लेकर छोटे पैमाने पर अब पूँजीवादी वृद्धि के लिए केवल सट्टेबाज़ी और जुए का रास्ता ही बचा रह गया है। सबप्राइम संकट की शुरुआत भी वित्तीय संस्थाओं और बैंकों द्वारा किये गये एक फ़ॉण्ड के कारण ही हुई थी। ऐसी सेंधमारियों, चोरी, लूट और डकैतियों से मुक्त पूँजीवाद की उम्मीद और आकांक्षा रखना आकाश कुसुम की अभिलाषा के समान है। पूँजीवाद प्रकृति से ही एक सेंधमारी और लूट है। पहले यह प्रच्छन्न तौर पर होती थी, और अब जबकि पूँजीवादी व्यवस्था दुनिया के पैमाने पर खोखली, कमज़ोर और मरणासन्न हो चुकी है, यह लूट और सेंधमारी नंगे तौर पर दुनिया के सामने है। सारदा चिटफण्ड घोटाला इसी सेंधमार पूँजीवाद की एक प्रतीकात्मक घटना थी।

## पूरे देश को फासीवाद की प्रयोगशाला में तब्दील करने की पूँजीपतियों की तैयारी

● अरविन्द

अभी कुछ ही दिन पहले नरेन्द्र मोदी गुजरात के 'विकास' के गीत गाने के लिए दिल्ली यूनिवर्सिटी के एस.आर.सी.सी. कॉलेज में पधारे। वहाँ तमाम जनवादी छात्र संगठनों और शिक्षकों ने 'नरेन्द्र मोदी मुर्दाबाद', 'फासीवाद मुर्दाबाद', और 'नरेन्द्र मोदी वापस जाओ' सरीखे नारों के साथ उनका स्वागत किया। वहीं पर एक महाशय जो काफी खाये-पीये लग रहे थे; बोले—“मोदी एक आँधी है, तुम लोगों के रोकने से यह नहीं रुकेगी।” इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ अचरज की बात नहीं हैं। आपको बहुत से लोग ऐसे मिल जाएँगे जिनके लिए मोदी एक नायक और एक असली नेता जैसा है। यह बात किसी भी संजीदा व्यक्ति को सोचने के लिए मजबूर करती है कि कैसे सीधे तौर पर एक साम्प्रदायिक छवि वाला व्यक्ति आम लोगों (खासकर निम्न व मध्य मध्यम वर्ग) के लिए एक नायक के तौर पर उभरकर सामने आता है। यह चीज़ एक तरफ तो देश में पल रहे फासीवाद की तरफ इशारा करती है, दूसरा यह प्रश्न उभरकर सामने आता है कि जब आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक ढाँचा बदलाव की माँग करता है तो क्यों समाज का एक हिस्सा फासीवादी चेहरों में समस्याओं के सही समाधान देखने लगता है? इसकी पड़ताल बेहद जरूरी है।

आर्थिक संकट के बढ़ने के साथ ही फासीवाद के ख़तरे भी बढ़ जाते हैं। आज भारत ही नहीं वरन् पूरी दुनिया में पूँजीवादी व्यवस्था आर्थिक संकट का शिकार है। बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, महँगाई और सामाजिक मर्दों में कटौती के कारण लगातार लोग सड़कों पर उतर रहे हैं। फासीवादी और धार्मिक कट्टरपंथी उभार भी विभिन्न देशों में अलग-अलग रूपों में देखे जा सकते हैं। अमेरिका की टी पार्टी, जर्मनी के नवनात्सी समूह, मिस्त्र में मुस्लिम ब्रदरहुड से लेकर दुनिया भर में कट्टरपंथी रुझान रखनेवाले राजनीतिक संगठन मौजूद हैं। असल में फासीवाद को ठीक ही 'पूँजीपतियों की जंजीर में बंधा हुआ कुत्ता' कहा गया है, जिसे संकट के समय जनता पर छोड़ा जा सके।

फासीवादियों के साथ पूँजीपतियों के काफी “मधुर सम्बन्ध” पाए जाते हैं। आपको ज्ञात हो, हिटलर के सत्ता में आने के दौरान जर्मनी के पूँजीपतियों ने सैकड़ों लाख मार्क जमा किए थे। हिटलर को पैसा देने वालों में वॉश और फाकलेयर जैसी कम्पनियाँ भी शामिल थी। ठीक इसी प्रकार हमारे देश के

ही नहीं बल्कि विदेशी पूँजीपति भी मोदी का गुणगान करते हुए नहीं थकते। चुनाव के समय दिया जानेवाला 'चंदा' तो आम बात है। असल में यह निवेश का ही एक हिस्सा होता है जिसे सस्ते श्रम, प्राकृतिक संसाधनों की लूट, कर छूट आदि के रूप में सूद समेत प्राप्त कर लिया जाता है, मजदूरों से निचोड़ा गया मुनाफा अलग से! आर्थिक संकट के दौर में मजदूर क्रान्तियों से बचने के लिए फासीवाद को अचूक नुस्खे के तौर पर प्रयोग किया जाता है। यही तो कारण है कि 2002 के गुजरात दंगों में खून की होली खेलने वाले मोदी को पूँजीपति काफी सराह रहे हैं।

छद्म चेतना यानी आभासी सत्य पर ही फासीवादी और तमाम तरह की साम्प्रदायिक ताकतें अपना ढाँचा खड़ा करती हैं। फासीवादी नेता एक सम्प्रदाय विशेष का नेता होने का दिखावा तो करते हैं, मगर असलियत कुछ और ही होती है। इनका काम केवल यही होता है कि येन-केन-प्रकारेण लोगों का ध्यान उनकी वास्तविक समस्याओं से हटाकर उनका सिरफुटौवल करवा दिया जाए। यह बात हिटलर, मुसोलिनी के लिए जितनी सही थी उतनी ही नरेन्द्र मोदी, राज ठाकरे, बाल ठाकरे और भारत में फासीवाद के अन्य प्रतीक पुरुषों के लिए भी सही है। धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि की पहचान की राजनीति के सहारे पिछड़ेपन और अवसरों की कमी का ज़िम्मेदार अल्पसंख्यकों और प्रवासियों को ठहरा दिया जाता है। जबकि इसका कारण है मुनाफा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था। यही कारण है कि फासीवादियों की मुख्य भर्ती अधिकतर भय और आर्थिक असुरक्षा के शिकार निम्न मध्य वर्ग से ही होती है। मोदी हिन्दुत्व के तहत गुजरात में होने वाले विकास पर फूलें नहीं समाते किन्तु गुजरात में 31 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जी रहे हैं (गरीबी रेखा के हास्यास्पद होने के बावजूद), लगभग 50 प्रतिशत बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। अस्पतालों में 1 लाख आबादी पर महज 58 बिस्तर उपलब्ध हैं। इन सबका कारण यही है कि सरकार जनता के करों से जमा पैसे को पूँजीपतियों पर लुटा रही है। अभी हाल ही में कैंग ने गुजरात की सरकार पर यह सवाल उठाया है कि वह ज़मीन, बिजली, पानी आदि पूँजीपतियों को जिस दर पर देती है, उससे सार्वजनिक खज़ाने का नुकसान होता है; ऊपर से मोदी करों आदि में पूँजीपतियों को छूट देने में सबसे आगे है। ऊपर से मजदूरों के

ऊपर पूरे गुजरात में जो आतंक राज कायम है, उससे पूँजीपतियों को सारे नियम-कानून ताक पर रखकर बेहिचक मुनाफ़ा कमाने का पूरा अवसर भी मिलता है। हाल ही में, हीरा कारीगरों के आन्दोलन को मोदी सरकार ने जिस “दृढ़ता” से कुचला, उसी के तो सारे पूँजीपति दीवाने हैं! आम मेहनतकश जनता के शोषण का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पिछले कुछ सालों में सबसे अधिक मजदूरों के आन्दोलन भी गुजरात में ही हुए हैं। अल्पसंख्यकों पर होनेवाले सरकारी व गैरसरकारी अत्याचारों की तो बात ही क्या की जाए।

**मीडिया** जिसे पूँजीवादी जनतन्त्र का चौथा खम्भा कहा जाता है, देश में सूचना और संचार तन्त्र का एक पूरा जाल बिछाता है। पूँजीवादी व्यवस्था के तहत मीडिया एक औज़ार होता है। इसके द्वारा पूँजीपति वर्ग जनता के ऊपर अपना वर्चस्व तो स्थापित करता ही है, साथ ही लोगों को भाग्यवादिता, कूपमण्डूकता, रूढ़िवादिता और हर प्रकार की मानसिक रूग्णता का शिकार भी बनाता है। विज्ञान के महती विकास के बावजूद धार्मिक पाखण्डियों और मानसिक विकृत बाबाओं की दुकानदारी खूब फलती-फूलती हुई देखी जा सकती है। आज हम देखते हैं कि तमाम तरह के मुख्य धारा के मीडिया पर भी पूँजीपतियों का ही कब्ज़ा है। जो चौबीसों घण्टे स्याह को सफेद और सफेद को स्याह करने में जुटा रहता है। हिटलर के प्रचार मन्त्री गोयबल्स ने एक बार कहा था कि यदि किसी झूठ को सच में बदलना है तो उसे सौ बार बोलो। जनता के ज़रूरी मुद्दों को छोड़कर गैर-ज़रूरी चीज़ को ही असली मुद्दा बनाकर पेश कर दिया जाता है। हत्यारों को नायकों जैसा सम्मान दिलाने में इस मीडिया का भी बड़ा हाथ है। औपनिवेशिक गुलामी के दौर से लेकर आज तक यह बात सही साबित होती रही है कि वैज्ञानिक और तार्किक विचारों की बजाय सड़ी पुरातन मान्यताओं और पुनरुत्थानवादियों से मानसिक खुराक लेने वाला समाज फासीवादी वृक्ष की बढ़ोत्तरी के लिए अच्छी ज़मीन मुहैया कराता है। 2002 में मौत का तांडव रचने वाले मोदी को विकास पुरुष के तौर पर प्रचारित करना मीडिया के बिकाऊ होने का ही एक सबूत है। जबकि गुजरात के कच्छ की खाड़ी में नमक की दलदलों में काम करने वाले मजदूरों का किसी को पता भी नहीं है जिनको मौत के बाद नमक में ही दफन कर दिया जाता है क्योंकि उनके शरीर में इतना नमक भर जाता है कि वह जल ही नहीं सकता। अलंग के जहाज़ तोड़ने वाले मजदूरों से लेकर तमाम मेहनतकश अवाम लोहे के बूटों तले जीवन जी रहे हैं, यह किसी को नहीं बताया जाता। इन्हीं सब चीज़ों से ‘जनतन्त्र के चौथे स्तम्भ’ की असलियत बयान होती है। पूँजीवादी मीडिया हमेशा पूँजीवाद की ज़रूरतों के मुताबिक जनता के बीच सहमति के निर्माण करने का काम करता है। जब पूँजीवाद को कांग्रेस के तथाकथित उदार शासन की ज़रूरत होती है, तो मीडिया उसे उछालता है। आज जब आर्थिक और राजनीतिक संकट जनता के बीच व्यवस्था के प्रति मोहभंग की स्थिति को बढ़ा रहा है, तो पूरा कारपोरेट मीडिया देश की सभी समस्याओं के समाधान के तौर पर एक ‘सशक्त और निर्णायक’

नेता के रूप में मोदी को पेश कर रहा है। यह बात दीगर है कि मोदी जिन आर्थिक नीतियों और श्रम नीतियों को गुजरात में लागू कर रहा है, इस देश में उसका श्रीगणेश करने का काम 1991 में वित्त मन्त्री के तौर पर मनमोहन सिंह ने ही किया था।

**संशोधनवादियों** की ऐतिहासिक गद्दारी और उनके द्वारा फासीवाद का नपुंसक विरोध भी भारत में फासीवादी ताकतों के मजबूत होने का एक कारण है। कांग्रेस की केन्द्र सरकार से तो कुछ उम्मीद ही नहीं की जा सकती जो ‘सेक्यूलर-सेक्यूलर’ चिल्लाते हुए आवश्यकतानुसार खुद भी नर्म साम्प्रदायिकता का कार्ड खेल जाती है। आज़ादी के बाद से लगभग कांग्रेस की ही सरकार रही है, मुख्य रूप से 1984 में सिख विरोधी दंगे, 1989 में भागलपुर का दंगा, फिलहाल का असम का दंगा आदि में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कांग्रेस ही जिम्मेदार रही है। क्योंकि सरकारी मशीनरी होते हुए भी साम्प्रदायिक समाजद्रोही तत्वों को न कुचलना भी प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है। संसदीय वामपन्थी साम्प्रदायिकता-विरोध में संसद-विधानसभाओं में ही बैठकर कुर्सी तोड़ते हैं और नपुंसक विर्मश करते हैं। सिंगुर और नन्दीग्राम जैसी घटनाएं इनके सामाजिक फासीवाद का ही रूप हैं। औपनिवेशिक सत्ता से आज़ादी से पहले जनवादी ताकतें कमजोर थी और बाद में इनके बड़े हिस्से ने पूँजीवादी व्यवस्था की सुरक्षा पंक्ति बनने का ही काम किया है। असल में जब जनता के सामने समस्याओं के सही कारण खोजकर नहीं रख दिये जाते तभी छद्म चेतना यानी आभासी सत्य काम कर पाता है। भाकपा, माकपा और तमाम भितरघातियों ने एक किस्म से फासीवाद को मदद ही पहुँचाई है। यह ज़रूरी नहीं है कि लोग वही करते जो उन्होंने किया। यदि विशिष्ट किस्म के सामाजिक राजनैतिक और विचारधारात्मक आन्दोलन संगठित किये जाते तो यह कतई ज़रूरी नहीं था कि जनता फासीवादियों का मोहरा बनती। अन्त में फासीवाद और साम्प्रदायिकता को समझ लेना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि इसे जनता के बीच नंगा करना ज़रूरी होता है। तमाम तरह के कट्टरपंथ की जड़ों को खोदने के लिए एक व्यापक व लम्बा विचारधारात्मक संघर्ष ज़रूरी है। समाज में व्याप्त आर्थिक गैरबराबरी, बेरोज़गारी, शोषण आदि के सही कारणों को जनता के बीच प्रचारित करना ज़रूरी है तथा साथ ही पूँजीवादी समाज और व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को लोगों के सामने रखते हुए इसके विकल्प पर बात करना बेहद ज़रूरी होता है। बाकी इतिहास गवाह है कि मेहनतकश जनता की वर्गीय एकजुट फौलादी ताकत ही फासीवाद को धूल में मिला सकती है और मिलाएगी भी। भारत के फासीवाद के झण्डाबदारां का भी वही हथ्र होना है जो हिटलर और मुसोलिनी का हुआ था।

**“अगर हमने समाजवाद की घड़ी को बीत जाने दिया तो हमारी सज़ा होगी फ़ासीवाद।”**

-डेनियल गुएरिन

## आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

### उत्तर प्रदेश

● जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर ● जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ ● जनचेतना स्टॉल, कॉफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8.00 तक) ● प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू वाराणसी ● विशाल विक्रम सिंह रूम नं-310 बिड़ला हॉस्टल-बी बीएचयू वाराणसी, ● कुँवर सन्दीप कुमार सिंह-कुसुमविला, कॉलेज रोड, मन्दिर लेन, उन्नाव

### दिल्ली

● अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर ● पी.पी.एच., जे.एन.यू. ● गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. ● हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. ● सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनाॅट प्लेस, ● पी.पी. एच. बुकशॉप कनाॅट प्लेस

### बिहार

● देबाशीष बराट, द्वारा-आर.के.बनर्जी, गोकुल पथ, नाला पार, रोड सं. 2, उत्तरी पटेल नगर, पटना-800024 ● श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो. करनौल, जिला मुजफ्फरपुर ● डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, "शब्दसदन", सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर ● प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना ● श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच.-3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, जिला-भोजपुर ● सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग, पटना ● रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर(बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, भाया-ईस्लामपुर, नालन्दा

### राजस्थान

● चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर ● ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर।

### हरियाणा

● डॉ. सुखदेव हुन्दल, ग्राम+पोस्ट सन्तनगर वाया जीवन नगर, सिरसा ● रमेश खटकड़, अमृता मेडिकोज, ओल्ड बस स्टैण्ड रोड, चोपड़ा पट्टी, नियर धोलाकुआ, नरवाना, जिला-जीन्दा।

### महाराष्ट्र

● वी. पी. सिंह, बी-5, संकष्टि कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, हाजी मलंग रोड, चक्की नाका, कल्याण ● पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फोर्ट, मुम्बई ● खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर ● श्याम सोनार (प्रोग्रेसिव स्टूडेंट्स फोरम) 3/3, शुभकामना सोसायटी, लक्ष्मीपार्क, फेज-2 के बाजू में पाडा नं-2, यशोधन नगर, ठाणे (पश्चिम) महाराष्ट्र ● गोपाल नायडू कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्टी, अजनी रोड, नागपुर ● शिरीष मेढी, डी-402, रवि इस्टेट ऑफ पोखरन रोड नं-1 ठाणे ● हर्ष ठाकोर, हरबंश, चतुर्थ तल, नूतन लक्ष्मी सोसायटी, 8<sup>th</sup> रोड, जूहू विले पारले डेब्लपमेण्ट स्कीम, मुम्बई

### पंजाब

● लखविन्दर, शहीद भगतसिंह पुस्तकालय 33, फुटा रोड, गली नं-5, लक्ष्मणनगर, गियासपुरा लुधियाना ● पंजाब बुक सेण्टर, एस.सी.ओ.-1126-27, सेक्टर-22 बी, चण्डीगढ़ ● लायल बुक डिपो, पंजाब यूनीवर्सिटी मार्केट, सेक्टर-14, चण्डीगढ़ ● सुरिन्दर स्टेशनर्स, शॉप नम्बर-35, सेक्टर-14, पी.यू. मार्केट, सेक्टर-14, चण्डीगढ़ ● एलाइड बुक सेण्टर, शॉप नम्बर-50, सेक्टर-15डी, चण्डीगढ़ ● स्टैण्डर्ड बुक डिपो, एस.सी.ओ.-78, सेक्टर-15, चण्डीगढ़ ● मदान बुक डिपो, पंजाबी यूनीवर्सिटी, पटियाला ● जे.के. न्यूज एजेंसी, बस स्टैण्ड के पीछे, पटियाला ● बस स्टैण्ड में लुधियाना काउण्टर के सामने

### मध्यप्रदेश

● संजय बुक स्टॉल, शाप नं. 43, ग्वालियर।

### हिमाचल प्रदेश

● सुरेश सेन "निशान्त", गाँव सलाह, डाक. सुन्दरनगर-1, जिला-मण्डी।

### उत्तराखण्ड

● संजय वर्मा, वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, पो.-सोमेश्वर, जिला-अल्मोड़ा ● राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, जिला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ ● "दखल" द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नियर उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा ● अल्मोड़ा किताबघर द्वारा श्री शमशेर सिंह बिष्ट नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, मालरोड, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़

### जम्मू

● श्री पुरुषोत्तम लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, ● राहुल 139, नेहरू हास्टल, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

### छत्तीसगढ़

● श्री देवांशु पाल, सं. "पाठ" गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़।

# पूँजीवादी जनवाद के खाने के दाँत

● श्वेता

प्रायः देश का शासक वर्ग आम जनमानस में इस धारणा को स्थापित करने की हरचन्द्र कोशिश में लगा रहता है कि पुलिस और जेलतन्त्र आम जनता की भलाई के लिए होते हैं। यदि पुलिस और जेल न हों तो समाज में अनुशासनहीनता और आपराधिक प्रवृत्तियाँ बढ़ जाएँगी। समाज में अराजकता को फैलने से रोकने का “तर्क” देकर पुलिस और जेल को व्यवस्था के संचालन के लिए महत्वपूर्ण बताया जाता है। आम जनमानस भी शासक वर्ग के “तर्क” के जाल में फँसकर इन तन्त्रों के महत्व की वकालत करने लगता है। हालाँकि अगर कुछ आँकड़ों पर गौर किया जाए तो इस धारणा को खण्डित होने में देर न लगेगी।

नयी दिल्ली में केन्द्रित एशियन सेंटर फॉर ह्यूमन राइट्स की एक रिपोर्ट वर्ष 2001-2010 के बीच हिरासत में हुई मौतों पर रोशनी डालती है। रिपोर्ट के अनुसार इस अवधि के दौरान हिरासत में 14,231 लोगों की मौत हुई। इनमें से 1,504 मौतें तो पुलिस हिरासत में जबकि 12,727 मौतें न्यायिक हिरासत में हुईं। पुलिस हिरासत में सबसे अधिक मौतें महाराष्ट्र (250) जबकि न्यायिक हिरासत में सबसे अधिक मौतें उत्तर प्रदेश (2171) में दर्ज की गईं। रिपोर्ट में स्पष्ट तौर पर कहा गया कि इन मौतों का प्रमुख कारण हिरासत में दी जाने वाली यातना है। एक अन्य संस्था वर्किंग ग्रुप ऑन ह्यूमन राइट्स (डब्ल्यू जी एच आर) के अनुसार भारत में प्रत्येक वर्ष पुलिस और न्यायिक हिरासत में यातना के औसतन 1 करोड़ 80 लाख मामले घटित होते हैं। यातना देने के लिए आम तौर पर जिन तरीकों को इस्तेमाल किया जाता है वे हैं- छत से उल्टा लटकवाया जाना, पानी में सिर डुबाना, गुप्तांगों में बिजली का करंट लगाना इत्यादि। क्या यह जानने के बाद भी “रक्षक” की भूमिका निभाने वाले पुलिस और जेलतंत्र में आस्था बरकरार रहने का कोई आधार बचा रह जाता है? एक सचेत और संवेदनशील व्यक्ति तो रोज़मर्रा के जीवन में पुलिस के रवैये से ही इस बात का अनुमान लगा सकता है कि हिरासत में यातना के बर्बरतम रूपों को भी अंजाम देने में पुलिस तंत्र के लोगों को ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं होती होगी।

गौरतलब यह है कि हिरासत में यातना का कहर या तो गरीब पृष्ठभूमि के लोगों या सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं को झेलना पड़ता है। अरबों-खरबों के भ्रष्टाचार में सिर से पाँव तक डूबे नेता-मन्त्री-नौकरशाह-पूँजीपति अब्बल तो हिरासत तक पहुँचते ही नहीं हैं और अगर इक्का-दुक्का मामलों में ऐसा हो भी जाए तो जिस राजसी ठाठ-बाट का माहौल उन्हें मुहैया होता है वह किसी पाँच सितारा होटल से कम नहीं होता। पैसे के दम पर कानून को अपनी जेब में लेकर घूमने वाले असली अपराधी तो सीना ताने खुलेआम घूमते हैं जबकि न

जाने कितने ही आम बेगुनाह लोगों का जीवन “इंसाफ” (पूँजीवादी न्यायपालिका से इंसाफ) की आस लगाते-लगाते जेल की काल कोठरियों में ही समाप्त हो जाता है। भोपाल गैस त्रासदी में हज़ारों बेगुनाह लोगों की मौत के लिए जिम्मेदार वॉरेन एण्डरसन पर भारत सरकार आँच तक आने नहीं देती, बल्कि उसे सकुशल विदेश पहुँचाने का काम किया जाता है, 2002 में गुजरात में बर्बर कत्लेआम को अंजाम देने वाले नरेन्द्र मोदी की प्रशंसा में कसीदे पढ़े जाते हैं, फुटपाथों पर सो रहे बेघर मासूम गरीबों को कार के नीचे कुचल देने के आरोपी सलमान खान को युवाओं के रोल मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है वहीं दूसरी तरफ अपने अधिकारों के लिए मानेसर स्थित मारुति प्लाण्ट के मजदूर जब सड़कों पर उतरते हैं तो उन पर संगीन धाराएँ लगाकर हिरासत में बर्बर यातनाएँ दी जाती हैं, जनता के हकों के लिए संघर्षरत राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर फर्जी मुकदमे चलाकर अकल्पनीय स्तर तक हिरासत में यातना दी जाती हैं। ये तो महज़ कुछ उदाहरण हैं। इन उदाहरणों के ज़रिये हम मुख्यतः पुलिस और जेल तन्त्र के वर्गीय चरित्र को उजागर करना चाहते हैं। प्रत्येक वर्ग समाज में पुलिस और जेल तन्त्र की भी अपनी वर्गीय पक्षधरता सुनिश्चित होती है।

पूँजीवादी व्यवस्था का मुख्य आधार मुनाफ़ा होता है। मुनाफ़ाखोरों का एक छोटा-सा हिस्सा आम जनता के शोषण से इस मुनाफ़े को सुनिश्चित करता है। बढ़ते शोषण के खिलाफ जब जनता का गुस्सा फूटने लगता है तो शासक वर्ग इस गुस्से को नियन्त्रित करने के लिए कई तिकड़में चलता है। व्यवस्था के पैरोकार शोषण पर टिकी व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए अनेकों साजो-सामान से खुद को लैस करके रखते हैं। कानून पुलिस, कोर्ट-कचहरी, जेल आदि का पूरा तन्त्र जनता के दिल में खौफ पैदा करने, उसे “काबू” में करने के लिए होता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में संसद, विधानसभाएँ आदि तो केवल दिखाने के दाँत होते हैं जो जनता को दिग्भ्रमित करने के लिए खड़े किए जाते हैं। “लोकतंत्र की सर्वोच्च संस्था”, “लोकतंत्र के मजबूत खंभे” जैसी लुभावनी बातों से जनता की नज़रों से सच्चाई को ओझल करने की कोशिश की जाती है। पूँजीवादी जनवाद की असलियत यह है कि वह 15 प्रतिशत मुनाफ़ाखोरों का जनवाद होता है और 85 प्रतिशत आम जनता के लिए तानाशाही होता है। इसी तानाशाही को पुलिस, कानून, कोर्ट-कचहरी, जेल आदि मूर्त रूप प्रदान करते हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था के खाने के दाँत की भूमिका अदा करते हैं।

कुछ लोगों का यह भी मानना होता है कि कुछ

( पेज 23 पर जारी )

# “विकास” की बेलगाम ऊर्जा

● प्रेम प्रकाश

तमिलनाडु के तिरुनेलवेली जिला का गाँव कुडनकुलम आज भारतीय मानचित्र पर ही नहीं वरन् पूरे ग्लोब पर उभरकर चर्चित हो चुका है, इण्टरनेट पर या अखबारों में अगर आप कुडनकुलम की खबरों की तलाश करें तो दो तस्वीरें दिखाई देती हैं। एक विशालकाय कंक्रीट का बना दानवनुमा परमाणु बिजली घर तो दूसरी तस्वीर समुद्र में तथा समुद्री किनारों पर इकट्ठा सैकड़ों नौकाओं और स्त्रियों, बच्चों समेत हजारों लोग और उनको पीटती पुलिस। इण्टरनेट पर आज कुडनकुलम पर कितने हजार पेजों में सूचनाओं का अम्बार है इसका पता लगाना कठिन है। कुडनकुलम ने एक साथ कई प्रश्नों को उठाकर हमारे सामने और बहुत करीब खड़ा कर दिया है, परमाणु ऊर्जा और विकास का प्रश्न, शासन के विकास का मॉडल और जनता के विकास-विरोध का प्रश्न, परमाणु ऊर्जा से सम्बन्धित सुरक्षा मानकों और प्राकृतिक आपदाओं का प्रश्न, परमाणु ऊर्जा के पक्ष और विपक्ष का प्रश्न और इन सबमें सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न भारतीय राज्य के ‘जनतान्त्रिक ढोल का पोल’ और जनता के जनवाद का प्रश्न। अगर हम अपनी आँखें व बुद्धि खुली रखते हैं, अगर हम अपने कोकून से बाहर अपने इर्द-गिर्द की दुनिया की खबर रखते हैं, तो ये तमाम मुद्दे हमको झकझोरते हैं, अपनी ओर खींचते हैं।

कुडनकुलम की इस त्रासद घटना की नींव तब पड़ी थी जब भारत अपने औद्योगिक विकास के नवीनतम मॉडल भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की सर्वग्रासी उड़ान का लांच पैड तैयार कर रहा था। सन 1988 में भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव के बीच दो परमाणु रिएक्टर लगाने का फैसला हुआ, सोवियत संघ के विघटन एवं राजनीतिक-आर्थिक कारणों से इसका निर्माण सन 2000 तक लम्बित पड़ा रहा और दुबारा 2001 में 13615 करोड़ की अनुमानित लागत से शुरू हुआ।

भारत-रूस की इस संयुक्त परियोजना में रूस-निर्मित वी.वी.आई.आर. 1000 (पी डब्ल्यू आर) रिएक्टरों को लगाया गया है, जिसमें से एक इकाई का निर्माण 99.7 प्रतिशत पूर्ण हो चुका है तथा दूसरी इकाई 97.26 फीसदी पूरी हो चुकी है। कोई भी बहस निरपेक्ष एवं शून्य में नहीं होती। वह सापेक्ष और देश काल में होती है और उसी आधार पर पक्ष व विपक्ष निर्धारित होते हैं। लेकिन इससे इतर सरकार और उसकी संस्थाएँ व वैज्ञानिक परमाणु ऊर्जा एवं “विकास” का निरपेक्ष रूप से पक्ष-पोषण कर रहे हैं। स्वयं देश के अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह कुडनकुलम नाभिकीय परमाणु संयंत्र (के.एन. पी.पी.) के विरोध के लिए विदेशी एन.जी.ओ. को जिम्मेदार

ठहरा रहे हैं। परमाणु ऊर्जा आयोग के पूर्व चेयरमैन श्रीनिवासन ने कहा की यह संयंत्र पूरी तरह सुरक्षित है। इस पर 14,000 करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके हैं और अगर यह तत्काल शुरू नहीं किया गया तो देश की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ेगा। संयंत्र के तकनीकी पहलू पर केन्द्र सरकार द्वारा गठित पैनल के संयोजक और नाभिकीय वैज्ञानिक डा. मुथुनायागम व भारत सरकार के प्रधान वैज्ञानिक सलाहकार राजगोपाल चिदंबरम तथा परमाणु ऊर्जा कारपोरेशन लिमिटेड (एन.पी.सी.आई.) के मुख्य प्रबन्धन अधिकारी के.सी. पुरोहित ने कहा कि संयंत्र ठीक एवं सुरक्षित है। पूर्व राष्ट्रपति डा. अब्दुल कलाम ने कहा कि संयंत्र भूकंप केंद्र से 1300 किमी दूर तथा समुद्र तल से 13 मीटर ऊपर स्थित है। वह इसे पूर्णतया सुरक्षित बता रहे हैं और इसे देश की प्रगति व विकास के लिए आवश्यक बता रहे हैं।

एक वैज्ञानिक विश्लेषण की जगह अगर कोई इन सरकारी दलीलों पर गौर करे तो स्पष्ट है की जनान्दोलनों को फण्ड के नाम पर बदनाम करना या देश के आर्थिक विकास और आर्थिक स्थिरता का राग अलापना कोई नयी बात नहीं है। राष्ट्रवाद का राग तो पूँजीवाद की मण्डी में ही पैदा होता है। तिरुनेलवेली, तूतीकोरन, कन्याकुमारी और अन्य हिस्सों के लाखों लोग पुलिस दमन के बावजूद विरोध में अड़े हैं। क्या विकास और स्थिरता के चिन्तक यह बता पायेंगे कि लाखों लोगों को बेघर कर उनका रोजगार छीन वे किस विकास की बात कर रहे हैं? दरअसल परमाणु ऊर्जा की पूरी बहस तथाकथित विकास के राष्ट्रीय एवं वैश्विक चरित्र के अनुकूल है जहाँ अति तीव्र ऊर्जा माँग तीव्र मशीनीकरण के उस उद्योग की जरूरत है जो मनुष्य के विकास को नहीं वरन् वर्तमान पूँजीवादी विश्व द्वारा सारे आर्थिक क्रियाकलाप को मुनाफे की अधिकतम पैदावार एवं संकेन्द्रण के रूप में व्याख्यायित करती है। आज जहाँ एक ओर पश्चिमी देश अपने रिएक्टरों और यूरैनियम को बेचकर पूँजी निर्यात द्वारा मंदी से लड़ सकते हैं व अपनी स्थिति मजबूत कर सकते हैं वहीं भारतीय पूँजीपति वर्ग को तथाकथित विकास रथ को सरपट दौड़ाकर श्रम की लूट को तेज करने के लिए सस्ती ऊर्जा की तीव्र जरूरत है। चाहे यह लोगों की जिन्दगी और आने वाली पीढ़ियों की कीमत पर ही क्यों न हो!

2008 में अमेरिका से हुए परमाणु करार के बाद भारत सरकार 150 बिलियन डालर के सौदे के लिए सहमत हुई थी। नाभिकीय आपूर्ति समूह (एन.एस.जी.) के 45 देश भारत में यूरैनियम बेचने की होड़ कर रहे हैं। फ्रांस, अमेरिका और रूस की कम्पनियाँ अपने यहाँ बने रिएक्टरों की आपूर्ति कर रही हैं। फ्रांस से करीब 300 टन और रूस से 30 टन यूरैनियम भारत

मंगाया जा चुका है। इससे देशी और विदेशी पूँजी दोनों का हित जुड़ा है।

कुडनकुलम परमाणु ऊर्जा संयंत्र के बारे में यह दलील भी दी जा रही है कि जब इतना पैसा खर्च किया जा चुका है तो कैसे बन्द किया जा सकता है? इससे यह लग सकता है कि लोगों ने शुरू में ही विरोध क्यों नहीं किया? पहली बात यह है कि ग़लत काम को बन्द करने एवं सही काम को शुरू करने में कभी भी देर नहीं होती। दूसरी बात यह है कि इस परमाणु संयंत्र का शुरू से ही विरोध हो रहा है, और सरकार ने कभी भी जनता की राय को तरजीह नहीं दी। सन 1988 में जब यह समझौता हुआ तभी कुछ महीनों के अन्दर छात्रों एवं अन्य लोगों के 10 लाख हस्ताक्षर 1989 में मिखाइल गोर्बाचोव के भारत आगमन पर दिये एवं काला झण्डा दिखाकर विरोध किया। तमाम शहरों में विरोध प्रदर्शन हुए। 1 मई 1989 में मछुआरे और निवासी कन्याकुमारी में इसके विरोध में एकत्र हुए। बीच में जब यह योजना ठप्प पड़ी तो विरोध भी मन्द था परन्तु जब पुनः इसे शुरू किया गया तो विरोध का स्वर तीव्र हो गया।

इस योजना में शुरू से ही सरकार का चरित्र वर्चस्ववादी एवं जनवाद-विरोधी रहा है। शुरू में सरकार ने कुडनकुलम के लोगों को गुमराह किया कि 10,000 लोगों को नौकरी दी जाएगी और कन्याकुमारी जिले में पेचिपोराई बाँध से पानी छोड़ा जायेगा तथा क्षेत्र का शानदार विकास किया जायेगा। बिना लोगों की सहमति लिए, पर्यावरण प्रभाव अनुमान (ई. आई. ए.) को लोगों से साझा किये बगैर, तथा सार्वजनिक सुनवाई के बिना काम शुरू कर दिया गया। तमिलनाडु सरकार के लोक निर्माण विभाग का सरकारी आदेश (जी .ओ-828 , 19.04. 1991, पी डब्ल्यू .डी.) स्पष्ट रूप से कहता है कि संयंत्र से दो से पाँच किमी तक लोगों को हटाया जा सकता है लेकिन के.एन.पी.पी. के अधिकारी इस पर मौन हैं और लिखित रूप से कोई बात नहीं कर रहे हैं जिससे विस्थापन का भय बरकरार है। संयंत्र के 30 किमी के दायरे में दस लाख से अधिक लोग रहते हैं जो कि नाभिकीय ऊर्जा नियामक बोर्ड के मानकों से अधिक है और आपदा के समय उनसे इलाका खाली नहीं कराया जा सकता। लाखों लीटर गरम पानी समुद्र में डाला जायेगा जिससे मछली उत्पादन में समस्याएँ पैदा होंगी और दक्षिणी तमिलनाडु एवं केरल में मछुआरों की भयंकर बेरोजगारी और खाद्य संकट पैदा होगा। तारापुर परमाणु संयंत्र जब शुरू हुआ था तो वहाँ मछली व्यवसाय में 700 नौकाएँ थी जो आज महज 20 रह गयी है। संयंत्र से पर्यावरणीय सुरक्षा एवं जैव विविधता को भी खतरा है। मंत्री जयराम रमेश ने कुछ माह पूर्व कहा कि समुद्रतटीय पर्यावरणीय नियमों के कारणों से कुडनकुलम में चार अन्य संयंत्रों के लिए अनुमति नहीं दी जाएगी तो यह समझा जा सकता है की शेष दो संयंत्र भी वही पर्यावरणीय प्रभाव पैदा करेंगे जिसके आधार पर चार को मना किया जा रहा है।

एक अन्य बात जो महत्वपूर्ण है वह यह कि दुर्घटना की

स्थिति में जिम्मेदारी से रिएक्टर निर्माता कम्पनी को मुक्त रखा गया है। अन्तर-सरकारी समझौता के नियम 13 में पूर्ण जिम्मेदारी एन.पी.सी.आई.एल. पर ही डाली गयी है और मुआवज़े को अत्यन्त कम रखा गया है। दरअसल दुर्घटनाओं से भारतीय पूँजीपति वर्ग को कोई मतलब नहीं है चाहे कितनी भी जानें क्यों न जाएँ उनकी अट्टालिकाएँ सुरक्षित रहनी चाहिए।

मौजूदा तकनीकी विकास और वर्तमान मानव द्रोही व्यवस्था में परमाणु ऊर्जा से जुड़ी समस्या विकिरण की है। परमाणु संयंत्र से निकलने वाले विकिरण में आयोडीन, सीशियम व अन्य रेडियोधर्मी कणों का उत्सर्जन होता है। समुद्री बालू से निकाले जाने वाले थोरियम से निकलने वाले विकिरण द्वारा तमाम रोग पैदा हो रहे हैं। परमाणु बिजली घरों से निकलने वाले नाभिकीय मलबे की बड़ी मात्रा एक बड़ा संकट पैदा करती है। 1000 मेगावाट के एक संयंत्र से एक वर्ष में 30 टन रेडियोधर्मी मलबा निकलेगा और मुनाफा-केंद्रित व्यवस्था में उससे कैसे निपटारा किया जायेगा यह सहज ही समझा जा सकता है। झारखण्ड के जादूगोडा की खदान से यूरेनियम निकाला जाता है। 1000 किलोग्राम खनिज से महज 300 ग्राम यूरेनियम प्राप्त होता है शेष 999.70 किग्रा रेडियोधर्मी पदार्थ छोड़ दिया जाता है जिससे खदान मजदूर तो प्रभावित होते ही हैं पूरे इलाके में लोगों में प्राथमिक अनुवर्तता, जन्मजात विकृति एवं विकलांगता व कैंसर जैसी भयंकर बीमारियाँ पैदा होती हैं, न्यूयार्क विज्ञान अकादमी से वर्ष 2009 में प्रकाशित रिपोर्ट में बताया गया की दुनिया भर में 1986-2004 के बीच 10 लाख लोग विकिरण के कारण पैदा किये गए रोगों से मर गए। जिन भारतीय संयंत्रों के बारे में यह कहा जाता है की वे बहुत सुरक्षित हैं उनकी सच्चाई यह है कि दुर्घटना की खबरें बाहर ही नहीं आ पाती हैं। केवल कलपक्कम संयंत्र में 1987 में रिएक्टर कोर क्षतिग्रस्त हुई, 1991 में मजदूरों को भारी जल (हेवी वाटर )से समस्या हुई, 1999 में 42 मजदूर रेडियोधर्मी विकिरण से प्रभावित हुए एवं वर्ष 2002 में 100 किग्रा रेडियोएक्टिव सोडियम पर्यावरण में चला गया। नवम्बर 2009 में कर्नाटक के कैगा नाभिकीय संयंत्र में 55 मजदूर विकिरण से प्रभावित हुए। श्री माइलआइलैंड (अमेरिका, 1979), चेर्नोबिल (रूस , 1986), या फुकुशिमा (जापान, 2011)हों, आज के इस वैश्विक विकास के माडल में पूँजीवादी मुनाफे की भेंट हमेशा जनता ही चढ़ती है। सरकार और पूँजीपतियों को जनता व कामगारों की चिन्ता नहीं रहती है। तमाम प्रयोगशालाओं में काम करने वाले वैज्ञानिकों आदि को वह सुरक्षा उपलब्ध होती है कि वे विकिरण से बिना प्रभावित हुए काम कर सकें जबकि वहीं मजदूरों के लिए सारे सुरक्षा मानक एवं उपकरण मज़ाक भर रह जाते हैं। यह समस्या मानवीय जिन्दगियों को उनके पैसे और हैसियत के आधार पर बाँटने के कारण और भी भयावह हो जाती है। फ्रांस जैसे विकसित देश में भी 20 से 30 हजार मजदूर नाभिकीय घुमक्कड़ (न्यूक्लियर नोमैड) के रूप में कार्य करते हैं जिसमें 100 से अधिक ठेका कम्पनियाँ कार्यरत हैं। यह श्रमिक संयंत्रों की साफ-सफाई एवं दुर्घटनाओं के समय काम करते हैं और

अपनी जिन्दगी का जोखिम उठाते हैं। कुडनकुलम में मछुआरे भी इसी आशंका से ग्रस्त हैं और आपदा प्रबन्धन योजना को देखना चाहते हैं लेकिन सरकार उन्हें दिखाने से इंकार रही है। सी.ए.जी. की रिपोर्ट जो अगस्त 2012 में आई है में स्पष्ट कहा गया है कि नाभिकीय ऊर्जा के क्षेत्र में भारत सरकार के पास पर्याप्त मानक नहीं हैं और पर्याप्त सुरक्षा मानकों को बनाने की ज़रूरत है। इससे समझा जा सकता है कि पर्याप्त मानक ही नहीं हैं तो सुरक्षा के प्रश्नों को कैसे हल किया जाता होगा।

विकास और ऊर्जा की पूरी बहस में परमाणु ऊर्जा पर इतने ज़ोर का कारण तेजी से मुनाफा कमाने की हवस है। इसी कारण वैकल्पिक ऊर्जा के विकास को उपेक्षित रखा गया है। वर्तमान बिजली की माँग 150 हजार मेगावाट से 2030 तक 950 हजार मेगावाट तक बतायी जा रही है और इसके लिए परमाणु ऊर्जा की ज़रूरत का प्रचार किया जा रहा है जबकि भारत में अभी तक परमाणु ऊर्जा का योगदान मात्र 3 फीसदी है। आजादी के बाद 60 वर्षों में वैकल्पिक ऊर्जा का योगदान 10 फीसदी से अधिक और बड़े पनबिजली संयंत्रों का योगदान 22 फीसदी है। भारत अपनी विशेष अवस्थिति के कारण वैकल्पिक उर्जा के विकास की सम्भावना से सम्पन्न है। भारत के पवन ऊर्जा एसोसिएशन के अनुसार पवन ऊर्जा क्षमता 65,000 मेगावाट है। छोटे पनबिजली संयंत्रों की क्षमता 15,000 मेगावाट है और बायोमास ऊर्जा की क्षमता 21,000 मेगावाट है।

भारत जैसे देश में सौर उर्जा की न्यूनतम क्षमता 400,000 मेगावाट है। पवन ऊर्जा के पुराने संयंत्रों को बदलकर उसकी क्षमता छः गुना तक बढ़ायी जा सकती है। भारत का समुद्री तट लगभग 7000 किमी का है और व्यापक स्तर पर ज्वारीय ऊर्जा के विकास की सम्भावना को विकसित किया जा सकता है। भूकम्पीय उर्जा आदि में भी अनुसंधान किये जा सकते हैं। पिछले 15 वर्षों में भारत ने 17,000 मेगावाट वैकल्पिक उर्जा जोड़ी है जिसे चीन ने मात्र 1 वर्ष में पूरा कर लिया, दूसरी तरफ भारत में पूँजीवादी विकास मॉडल द्वारा ऊर्जा की भयंकर बर्बादी की जाती है तमाम भवनों की डिजाइन ठीक रखकर प्राकृतिक प्रकाश से काम चलाया जा सकता है। शॉपिंग मॉल, आई.टी. कम्पनियाँ और तमाम सरकारी एवं निजी प्रतिष्ठान दिन रात ऊर्जा बर्बाद करते हैं। भारत में कुल ऊर्जा उत्पादन का लगभग 40 फीसदी बर्बाद हो जाता है। अगर दक्षता 90 फीसदी तक बढ़ायी जा सके तो 60,000 मेगावाट बिजली बचाई जा सकती है जो कुडनकुलम जैसे 60 रिएक्टरों के बराबर होगी। यदि लैम्पों को बदलकर दक्ष व कम खपत वाले लैम्प लगाये जाएँ तो 2000 मेगावाट ऊर्जा बचाई जा सकती है। लेकिन वैकल्पिक ऊर्जा के विकास एवं उर्जा बचत से मुनाफे की व्यवस्था और परमाणु ऊर्जा के राजनीतिक अर्थशास्त्र में बाधा पैदा होगी। आज विज्ञान एवं अनुसन्धान उसी दिशा में बढ़ाया जायेगा जिससे पूँजी का हित सुरक्षित हो न कि आम आदमी का।

कुडनकुलम ने एक बात साफ कर दी है कि शान्ति और प्रजातंत्र की रट लगाने वाली सरकार की नजरों में जनता के लिए कोई जनवाद नहीं है। आन्दोलन की अगुआई कर रहे

‘परमाणु ऊर्जा के विरुद्ध जनांदोलन’ (पी.एम.ए.एन.ई.) के लोगों की मुख्य माँग यह है कि: 1. परमाणु संयंत्र में ईंधन डालने की प्रक्रिया पर रोक, 2. परमाणु ऊर्जा का विरोध कर रहे नेताओं को छोड़ना, 3. प्रभावित लोगों को मुआवजा, 4. हिरासत में लिए गए लोगों को छोड़ना। इससे से ऐसी कोई भी माँग नहीं है जिसे नहीं माना जा सकता। जब तक कुडनकुलम के लोगों की सहमति नहीं बनती तब तक इसे रोककर, मुद्दे को बातचीत से हल करने की बजाय राज्य दमन के हथियार का प्रयोग कर रहा है। अगस्त 2012 में मद्रास उच्च न्यायालय ने के.एन.पी.पी. की पहली और दूसरी इकाई को चालू करने को चुनौती देने वाली दोनों याचिकाओं को खारिज कर दिया। सितम्बर 2012 में भारी संख्या में आये प्रदर्शनकारियों, मछुआरों और निवासियों को 400 आर.ए.एफ. एवं 2000 पुलिसकर्मियों ने रोक दिया। शुरुआत में जहाँ लोग यह समझ रहे थे कि यह केवल मछुआरों की समस्या है अब ऐसा नहीं है और 2007 से आन्दोलन ने दुबारा ज़ोर पकड़ना शुरू किया। जापान के फुकुशिमा दुर्घटना के बाद इस संयंत्र को लेकर विरोध तेज़ हो गया, 9 सितम्बर 2012 को विरोध में कुडनकुलम कुट्टापुल्ली, पेरुमनल, कुट्टापाना और अन्य गाँव से लोग आये। पुलिस की 10 कम्पनियों के लगभग 4000 पुलिस ने शांतिपूर्ण आन्दोलन पर लाठी चार्ज किया और बर्बरतम दमन किया। महिलाओं और बच्चों तक को नहीं बख्शा गया, मछुआरों पर गोली चलाने से 40 वर्षीय एण्टनी मर गया। पुलिस ने घर-घर घुसकर तलाशी ली हज़ारों लोगों पर राजद्रोह एवं राज्य के खिलाफ युद्ध का झूठा मुकदमा लगाया गया। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् की सदस्य अरुणा राय ने पुलिस कार्यवाही की निन्दा करते हुए कहा कि करीब 7000 प्रदर्शनकारियों के खिलाफ पुलिस देशद्रोह का मुकदमा करने जा रही है। 10 सितम्बर 1012 शाम को 65 लोग कुडनकुलम गाँव से गिरफ्तार किये गए, सुनामी कालोनी में घर-घर तलाशी ली गयी। इदिन्थाकराई गाँव को पानी की आपूर्ति बन्द कर दी गयी और पाँच गाँवों की बिजली आपूर्ति काट दी गयी। दुबारा अक्टूबर 2012 में तिरुनेल्वेली, तृतीकारन और कन्याकुमारी से 1000 नावों में सवार होकर लगभग 10000 लोग इसके विरोध में इकट्ठा हुए थे। तिरुनेल्वेली के नौ गाँव के 23000 लोगों ने विरोध में अपने वोटर कार्ड वापस कर दिए और दिन-प्रतिदिन विरोध का स्वर तेज़ होता जा रहा है। यह विरोध करने वाले कोई आतंकवादी नहीं वरन् इसी देश के मछुआरे, किसान, दलित मजदूर एवं बीड़ी बनाने वाले लोग हैं जिसमें से 200 से अधिक लोगों पर मुकदमे दर्ज हैं। सितम्बर 2012 की घटना के बाद 20 से अधिक लोगों को अस्पताल में भरती कराया गया था परन्तु अस्पताल से छूटने के बाद उनके घर वापस आने की कोई खबर नहीं थी, जैतापुर में फ्रांस की कम्पनी अरेवा के परमाणु बिजली घर के लिए 940 हेक्टेअर भूमि अधिग्रहण कर 2375 परिवारों को उजाड़ दिया गया है। गुजरात के मिथिविर्दी, आन्ध्र प्रदेश के कोवाडा में अमेरिकी कम्पनी परमाणु संयंत्र बनाएंगी। पश्चिमी बंगाल के हरिपुर, उड़ीसा के सोनापुर में भी परमाणु संयंत्र लगाने की योजनायें हैं।

परमाणु दुर्घटना होने पर विकिरण के कारण 25,000 साल तक उस स्थान पर रहने लायक नहीं होगा। भोपाल गैस त्रासदी में 20,000 लोगों की जानें गयीं और 57,000 लोग घायल हुए जिनको आज तक मुआवज़ा नहीं मिला और यूनियन कार्बाइड का मालिक साफ बच गया। नर्मदा बाँध के विस्थापितों को पुनर्वास और मुआवज़ा आज तक नहीं मिला पाया। आज सभी चुनावी पार्टियाँ विकास के इसी माडल के पक्ष में हैं और अगर इक्की-दुक्की इसका विरोध करती दिख रही हैं तो वह महज़ वोट बैंक की राजनीति के लिए।

आज चाहे शहरों की झुगियों को उजाड़ना हो या जगह, जंगल, ज़मीन को पूँजी के हाथों लुटाना हो; चाहे फैक्ट्रियों में नियमों को ताक पर रखकर मजदूरों की हत्या करनी हो अथवा परमाणु ऊर्जा के नाम पर विकास का राग अलापते हुए लोगों की जीविका एवं जीवन से खिलवाड़ करना हो; मुनाफे के भूखे पूँजीपति इसी में संलग्न हैं।

प्रश्न नाभिकीय उर्जा के निरपेक्ष विरोध का नहीं है, ऊर्जा के विभिन्न रूपों का उपयोग उपलब्ध तकनीक, समय एवं विज्ञान के विकास के सापेक्ष ही हो सकता है। मौजूदा तकनीक एवं व्यवस्था में नाभिकीय उर्जा के सुरक्षित प्रयोग की

## पूँजीवादी जनवाद के खाने के दाँत

( पेज 19 से जारी )

कानूनी संशोधनों के ज़रिये पुलिस और जेल तन्त्र को मानवीय रूप प्रदान किया जा सकता है। वे एकांगी तरीके से इन तन्त्रों की कार्य प्रणाली को देखते हैं। वे पुलिस और जेल तन्त्र के वर्गीय सारतत्व को नहीं समझते। मुनाफे पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था में पुलिस और जेल तन्त्र के मानवीय रूप की कल्पना शेखचिल्ली के सपने से अधिक कुछ नहीं है। सच्चाई तो यह है कि भारतीय शासक वर्ग लगातार कानून, पुलिस, जेल रूपी पूँजीवादी व्यवस्था के खाने के दाँतों को अत्यधिक पैना करने की कवायदें कर रहा है। यह अनायास नहीं है कि भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिरासत में यातना के संस्थागत रूप को ज्यों का त्यों रखा गया जैसा वह अंग्रेज़ों के शासन काल में था। सच्चाई तो यह है कि कानूनों में संशोधन करके हिरासत में यातना की कार्यवाही को अधिकाधिक सुगम बनाया जा रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था के चाकर अन्याय के खिलाफ उठने वाले हर स्वर को दबाने की तैयारी में खुद को तमाम हरबे-हथियारों से लैस कर रहे हैं। शासक वर्ग की सेवा में लगे तमाम खंभों (विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, मीडिया) से आम जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करने की उम्मीद करना बेकार है। मुनाफे पर टिकी व्यवस्था से उम्मीद बाँधे रखने की सोच हमें अंधेरी गली में भटका देगी। हमें अपनी सोच को व्यापक बनाना होगा। पूँजीवादी व्यवस्था की सीमाओं और सन्तुप्त हुई तमाम सकारात्मक सम्भावनाओं को भी समझना होगा। मानवीय ज़रूरतों पर केन्द्रित एक वैकल्पिक व्यवस्था की तैयारी के लिए यह आज की बुनियादी शर्त भी है और ज़रूरत भी।

सम्भावना नहीं है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि कभी ऐसी तकनीक ईजाद नहीं होगी। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के तहत इसकी उम्मीद कम ही है, क्योंकि ऐसे उपक्रम में निवेश करने की बजाय कोई भी पूँजीपति मरघट पर लकड़ी बेचने का व्यवसाय करना पसन्द करेगा। जनता की सुरक्षा और बेहतर ज़िन्दगी के लिए उपयोगी तकनोलॉजी के शोध और विकास में कोई निवेश नहीं करने वाला है। नतीजतन, परमाणु ऊर्जा का सुरक्षित और बेहतर इस्तेमाल आज मुश्किल है। लेकिन एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था और समाज में यह सम्भव हो सकता है।

आज शासक वर्गों के मुनाफे की माँग और विकास की बेलगाम ऊर्जा का प्रासाद जनता की ज़िन्दगी की कीमत पर खड़ा हो रहा है। यह जीवन, पर्यावरण, पारिस्थितिकी और मानवता की बलि देकर मुट्ठी भर लोगों के मुनाफे की हवस को पोषित कर रही है। आज लोग सत्ता के जन-विरोधी चरित्र को समझने लगे हैं तथा आज यह विरोध परमाणु ऊर्जा तक ही नहीं वरन् सत्ता द्वारा जीविका और भूमि के अधिग्रहण के प्रत्येक रूप के विरोध में सामने आ रहा है और उसी की एक कड़ी के रूप में कुडनकुलम में आज भी यह युद्ध जारी है।

“आधुनिक मनुष्य का बढ़ता सर्वहाराकरण और जनसमुदायों का बढ़ता गठन एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। फासीवाद नव-गठित सर्वहारा जनसमुदायों को उस सम्पत्ति संरचना को छोड़े बगैर संगठित करना चाहता है जिसे जनसमुदाय खत्म करने के लिए जूझते हैं। फासीवाद इन लोगों को उनके अधिकार देने में अपना निर्वाण नहीं देखता, बल्कि उन्हें अपने आपको अभिव्यक्त करने का एक अवसर देने में अपना निर्वाण देखता है। जनसमुदाय के पास सम्पत्ति सम्बन्धों को बदल डालने का अधिकार है; फासीवाद सम्पत्ति की रक्षा करते हुए उन्हें अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है। फासीवाद की तार्किक परिणति होता है राजनीतिक जीवन में सौन्दर्यशास्त्र का प्रवेश। जनसमुदाय के विरुद्ध अतिक्रमण, जिसे फासीवाद अपने फ्यूहरर कल्ट के ज़रिये, घुटनों के बल ले आता है, का समानान्तर एक ऐसे उपकरण के विरुद्ध अतिक्रमण में होता है जो कि संस्कारगत मूल्यों के उत्पादन में लगाया गया होता है।”

—वॉल्टर बेंजामिन (‘यान्त्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलात्मक रचना’ नामक रचना से)

चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी ( 12-16 मार्च, 2013 ), चण्डीगढ़

## ‘जाति प्रश्न और मार्क्सवाद’

# जाति उन्मूलन का रास्ता मज़दूर इंक्लाब और समाजवाद से होकर जाता है, संसदवादी, अस्मितावादी या सुधारवादी राजनीति से नहीं!

गत 12 से 16 मार्च तक अरविन्द स्मृति न्यास द्वारा चण्डीगढ़ में चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का आयोजन हुआ। इस बार संगोष्ठी पाँच-दिवसीय थी और इसका विषय था ‘जाति प्रश्न और मार्क्सवाद’। संगोष्ठी में देश भर से बुद्धिजीवियों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, छात्रों-युवाओं और दलित संगठनों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। संगोष्ठी में आठ पेपर पेश किये गये और कुछ अन्य पेपरों को संगोष्ठी में वितरित किया गया। अरविन्द स्मृति न्यास का गठन प्रसिद्ध राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ता अरविन्द सिंह की स्मृति में 2009 में किया गया था। साथी अरविन्द मृत्यु से पूर्व ‘बिगुल’ के सम्पादन की ज़िम्मेदारी उठाने के साथ-साथ दिल्ली व उत्तर प्रदेश के मज़दूर आन्दोलनों में सक्रिय थे। वे गोरखपुर में दलित सफ़ाई कर्मचारियों के एक आन्दोलन में भी नेतृत्वकारी भूमिका में थे। साथी अरविन्द की 24 जुलाई 2007 को बीमारी के कारण आकस्मिक निधन हो गया था। उसके बाद से ही, उनकी

याद में हर वर्ष उनकी पुण्य तिथि पर अरविन्द स्मृति न्यास भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए सबसे ज्वलन्त और प्रासंगिक मुद्दों पर अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन कर रहा है। 2012 में उनकी पुण्य तिथि पर इस संगोष्ठी का आयोजन करने की बजाय, अरविन्द स्मृति न्यास ने 2013 में उनके जन्मदिवस पर एक बड़ी पाँच दिवसीय संगोष्ठी करने का निर्णय लिया, और साथ ही यह निर्णय भी लिया कि अब से इस संगोष्ठी का आयोजन हर वर्ष साथी अरविन्द की जन्मतिथि पर ही किया जायेगा। लिहाज़ा, 2013 में 12 से 16 मार्च के दरमियान ‘जाति प्रश्न और



अरविन्द शोध टीम की ओर से आधार आलेख प्रस्तुत करते सत्यम

मार्क्सवाद’ विषय पर पाँच दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया।

मज़दूर आन्दोलन से लेकर छात्र-युवा आन्दोलनों तक में सक्रिय हर राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ता इस बात से अच्छी तरह से वाकिफ़ है कि जाति का सवाल आज मज़दूरों

और आम मेहनतकश जनता समेत छात्रों-युवाओं तक को संगठित करने में सबसे महत्वपूर्ण बाधाओं में से एक है। और ऐसा महज आज से नहीं बल्कि कई दशकों से है। देश की करीब 17 करोड़ दलित आबादी का बहुलांश मेहनतकश लोग हैं, जो कि भयंकर आर्थिक उत्पीड़न के साथ बर्बर जातिगत उत्पीड़न के भी शिकार हैं। हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान से लेकर तमिलनाडु और कर्नाटक तक मेहनतकश दलित आबादी के साथ आये दिन बर्बर और अमानवीय कृत्यों की खबरें आती रहती हैं। यह दलित मेहनतकश आबादी भारत के मजदूर वर्ग का सबसे पीड़ित और साथ ही सबसे जुझारू हिस्सा है। यही कारण है कि इस दलित आबादी को मजदूर वर्ग से अलग रखने के लिए जातिवादी अस्मितावादी राजनीति का जाल शासक वर्ग और उसके टट्टुओं द्वारा बिछाया गया है। चुनावी और गैर-चुनावी अस्मितावादी दलित राजनीति करने वाले संगठन इस आबादी को एक राजनीतिक पार्थक्य में रखते हैं और उनके हितों के अकेले पहरेदार होने का दावा करते हैं। वहीं दूसरी ओर मजदूर वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाला कम्युनिस्ट आन्दोलन दलित आबादी के संघर्षों में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने और बेमिसाल कुर्बानियाँ देने के बावजूद, दलित प्रश्न को सही ढंग से समझने में नाकाम रहा। दलित आबादी के बीच कम्युनिज़्म को बदनाम करने में संसदवादी

संशोधनवादी कम्युनिस्टों की बड़ी भूमिका रही है, जिन्होंने अपने जीवन में सवर्णवादी मूल्यों-मान्यताओं पर अमल करते हुए लाल झण्डे पर धब्बा लगाने का काम किया। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट अपने जीवन में जाति व्यवस्था को खारिज करने के बावजूद जाति की सामाजिक समस्या के ऐतिहासिक मूल और समाधान के बारे में कोई विस्तृत योजना पेश न कर सके। लेकिन इन सबके बावजूद यह आज का सच है कि सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद के बिना, बुर्जुआ व्यवस्था के दायरे के भीतर दलित आबादी की मुक्ति सम्भव नहीं है; साथ ही, यह भी उतना ही बड़ा सच है कि व्यापक मेहनतकश दलित आबादी की भागीदारी और उसकी बाकी मजदूर आबादी के साथ फौलादी एकजुटता के बिना ऐसी कोई क्रान्ति सम्भव ही नहीं है। यह एकता कैसे कायम की जाय? अस्मितावादी राजनीति का मुकाबला कैसे किया जाय? अम्बेडकर के योगदानों की आलोचनात्मक समीक्षा किस रूप में की जाय? क्या अम्बेडकर

के पास जाति उन्मूलन का कोई रास्ता था? दलित मुक्ति की क्रान्तिकारी समाजवादी परियोजना का खाका कैसे तैयार किया जाय? फौरी कार्यभारों के तौर पर क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन को इस प्रश्न पर कौन-से कदम उठाने चाहिए? ये ऐसे कुछ सवाल हैं जिनका जवाब देना आज क्रान्तिकारियों के सामने एक अहम चुनौती है। और इसी चुनौती का जवाब देने के लिए एक व्यापक बहस-मुबाहसे के लिए चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का विषय 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' रखा गया। इस संगोष्ठी की रिपोर्ट हम आपके बीच पेश कर रहे हैं।



संगोष्ठी के पहले दिन साथी अरविन्द को क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि अर्पित करने के साथ कार्यक्रम की शुरुआत हुई। इसके बाद अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से संगोष्ठी का आधार आलेख 'जाति प्रश्न और उसका समाधान: एक मार्क्सवादी

दृष्टिकोण' सत्यम वर्मा द्वारा पेश किया गया। यह आधार आलेख अरविन्द स्मृति न्यास की शोध टीम द्वारा तैयार किया गया था। आलेख को पेश करने में करीब 5 घण्टे लगे। आलेख में यह स्थापना रखी गयी कि भारत में सर्वहारा क्रान्ति की कोई भी परियोजना जाति के प्रश्न को सही ढंग से समझे बिना और उसके समाधान की दीर्घकालिक ऐतिहासिक योजना के बिना आगे नहीं बढ़ सकती है; साथ ही, जातिगत असमानता



जाति-सम्बन्धी इतिहास-लेखन पर अपना आलेख प्रस्तुत करते अभिनव

और उत्पीड़न का खात्मा और समूची जाति व्यवस्था के उन्मूलन की भी कोई परियोजना पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर रहकर सुधारवाद, आरक्षण, संसदवाद और अस्मितावाद के रास्ते आगे नहीं बढ़ सकती है। आज क्रान्ति के हिरावलों को ज़रूरत है कि वे जाति उन्मूलन की एक सही वैज्ञानिक-ऐतिहासिक परियोजना पेश करें। निश्चित तौर पर, सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था स्वयं ही खत्म नहीं हो जायेगी और उसके बाद भी कई सांस्कृतिक क्रान्तियों और समाजवादी शिक्षा आन्दोलनों के बाद ही यह लक्ष्य पूरा हो पायेगा। लेकिन क्रान्ति होने तक जाति के प्रश्न को स्थगित भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जाति के प्रश्न को पहले दिन से ही क्रान्तिकारी समझदारी के साथ उठाये बिना सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के लिए संगठित ही नहीं किया जा सकता है। जहाँ एक ओर देश की मेहनतकश आबादी में स्वतःस्फूर्त रूप से जातिगत विभेद के संस्कार मौजूद

हैं, वहीं वोट बैंक की राजनीति करने वाली पूँजीवादी चुनावी पार्टियाँ भी वोटों के लिए जातिगत समीकरणों का ही इस्तेमाल करती हैं, जिससे कि समाज में जातिगत विभेद और भी ज्यादा बढ़ता है। शासक वर्गों की हर सम्भव कोशिश होती है कि पहले से जाति में बँटी हुई आम मेहनतकश जनता के बीच जातिवादी चेतना को और ज्यादा बढ़ावा दिया जाय।

आलेख में आगे स्पष्ट किया गया कि जाति व्यवस्था को उसकी ऐतिहासिकता के साथ ही समझा जा सकता है। जाति व्यवस्था अपने उद्भव से लेकर आज तक के दौर में स्थैतिक और जड़ नहीं रही है, बल्कि सतत् गतिमान रही है। अपने उद्भव के दौर में वर्ण वर्ग के रूप में ही पैदा हुए थे; लेकिन आगे धार्मिक कर्मकाण्डीय वैधीकरण प्राप्त करने के कारण वर्ण तुलनात्मक रूप से स्थैतिक श्रेणी बन गये जबकि वर्ग उत्पादन सम्बन्धों में आने वाले बदलावों के कारण अपेक्षकृत ज्यादा गतिमान रहे। फिर भी, औपनिवेशिक दौर के पहले तक जातियों के पदानुक्रम और वर्गों के पदानुक्रम के बीच कमोबेश अतिच्छादन की स्थिति बनी हुई थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आने के बाद उद्योगों, रेलवे आदि का जो सीमित विकास ब्रिटिश शासकों के लाभ के लिए किया, उसके कारण



अम्बेडकर और दलित मुक्ति पर अपना आलेख प्रस्तुत करते सुखविन्दर

जाति के कुछ बन्धन कमजोर पड़े और जातियों के पदानुक्रम और वर्गों के पदानुक्रम के बीच के अतिच्छादन के तत्व में कमी आयी। आज़ादी के बाद भारतीय पूँजीपति वर्ग ने भारत में जो क्रमिक पूँजीवादी विकास का रास्ता अख़्तियार किया, उसके कारण कम गति से ही सही, लेकिन जाति द्वारा आधारित अनमनीय श्रम विभाजन और खान-पान सम्बन्धी वर्जनाएँ टूटी हैं। लेकिन बेटा का रिश्ता अभी भी नहीं बन सका है। लेकिन उसका एक कारण यह है कि अन्तर्जातीय विवाह पूँजीवाद की ज़रूरत नहीं हैं। जातिगत विभेद और बँटवारा भारतीय समाज की पोर-पोर में समाये हुए हैं और जाति व्यवस्था के आर्थिक और एक हद तक राजनीतिक पहलुओं के पूँजीवादी विकास के साथ काफी हद तक कमजोर हो जाने के बावजूद सांस्कृतिक और सामाजिक रूप में यह अभी भी भारतीय समाज में अपनी सशक्त उपस्थिति आये दिन दर्ज कराती रहती है। यह विशेष रूप से दलित-उत्पीड़न की बर्बर घटनाओं के रूप में सामने आता है।

कुछ सहूलियतों और सुधारों से दलित आबादी को कुछ भी हासिल हो सकेगा इसकी उम्मीद कम ही है। आरक्षण के लगभग तीन दशक बीत जाने के बाद यह स्वयंसिद्ध है, कि

आज आरक्षण एक जनवादी माँग नहीं बल्कि जनवादी विभ्रम में तब्दील हो चुका है। यह शासक वर्ग के हाथ में दलित आबादी के बीच भी लगातार फूट डालते जाने का एक अहम औज़ार बन चुका है। तीन दशक बीत जाने के बाद भी अगर आरक्षण की नीति के ज़रिये अगर सिर्फ 7-8 प्रतिशत दलित ही इसका लाभ प्राप्त कर सके हैं, तो यह सोचना पड़ेगा कि इस नीति से व्यापक दलित मेहनतकश आबादी को क्या हासिल हो सकता है? वहीं दूसरी तरफ, शासक वर्ग ने इस नीति का इस्तेमाल लगातार न सिर्फ पूरी आम मेहनतकश आबादी की एकता को तोड़ने के लिए किया है, बल्कि स्वयं दलितों की आबादी को भी खण्ड-खण्ड में बाँटने में किया है। साथ ही, यह भी सोचने का विषय है कि अम्बेडकर के पास दलित मुक्ति की कोई ऐतिहासिक परियोजना थी या नहीं। जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक मूल से लेकर उसकी गतिकी तक के बारे में अम्बेडकर की समझदारी बेहद उथली थी। नतीजतन, जाति उन्मूलन को कोई वैज्ञानिक रास्ता वह कभी नहीं सुझा सके। इसका एक कारण यह भी था कि अम्बेडकर की पूरी विचारधारा अमेरिकी व्यवहारवाद के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। लिहाज़ा, उनका आर्थिक कार्यक्रम अधिक से अधिक

पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद तक जाता था, सामाजिक कार्यक्रम अधिक से अधिक धर्मान्तरण तक और राजनीतिक कार्यक्रम कभी भी संविधानवाद के दायरे से बाहर नहीं गया। कुल मिलाकर, यह एक सुधारवादी कार्यक्रम था और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर ही कुछ सहूलियतों और सुधार माँगने से आगे कभी नहीं जाता था। अम्बेडकर का एक योगदान अवश्य था कि उन्होंने पहली बार दलित अस्मिता को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया और दलितों की मुक्ति के प्रश्न को राष्ट्रीय एजेण्डे पर स्थापित करने में योगदान किया। लेकिन जहाँ तक जाति उन्मूलन का सवाल है, उनके पास इसका कोई रास्ता नहीं था। साथ ही, अम्बेडकर के बाद के दौर में दलित राजनीति में पैदा हुए रैडिकल मोड़ भी अन्ततः पतन में समाप्त हुए। ऐसे में, विचारणीय है कि अस्मिता की ज़मीन पर खड़े होकर दलित मुक्ति की कोई भी परियोजना नहीं बनायी जा सकती है। आधार आलेख में फुले और पेरियार की जाति-विरोधी धाराओं का भी आलोचनात्मक विश्लेषण रखा गया और बताया गया कि पेरियार का जाति-विरोध निरीश्वरवाद और तर्कवाद की ज़मीन पर खड़ा था। लेकिन राजनीतिक तौर पर इसकी समझदारी बेहद कमजोर थी। मिसाल के तौर पर, उपनिवेशवाद

का विरोध न करने का उनका फैसला अन्ततः जाति व्यवस्था के पक्ष में जाकर ही खड़ा होता था, क्योंकि कुछ बिखरे सामाजिक और शैक्षणिक सुधारों को छोड़ दिया जाय तो ऐतिहासिक तौर पर उपनिवेशवाद ने जाति व्यवस्था को मजबूत करने का काम किया था। यही कारण था कि आगे भी पेरियार कभी अनमनीय जाति-विरोधी राजनीतिक व्यवहार नहीं कर पाये।

लेकिन साथ ही यह भी एक सत्य है कि भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन दलित प्रश्न को कभी सही तरीके से समझ नहीं सका। तमाम रैडिकल आन्दोलनों में कम्युनिस्ट दलितों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े, उनके ज़मीन और इज्जत के हक के लिए असाधारण कुर्बानियाँ भी दीं और भाकपा और माकपा के संशोधनवाद के रास्ते पर चल पड़ने के बाद, देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रमुख सिपाहियों में बिहार, पश्चिम बंगाल से लेकर आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक तक दलित आबादी ही थी। तमाम इलाकों में सवर्ण ज़मींदारों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष कर कम्युनिस्ट आन्दोलन ने दलितों को सिर ऊँचा करके चलने का हक दिलाया। लेकिन इन तमाम कुर्बानियों के बावजूद



जातिवादी अस्मितावादी राजनीति पर अपना आलेख पेश करती शिवानी

अपनी बौद्धिक-राजनीतिक कमज़ोरी के चलते भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन जाति का प्रश्न को न तो सही ढंग से समझ सका और न ही उसके समाधान की कोई ऐतिहासिक परियोजना सुझा सका। आज कई नव-मार्क्सवादी चिन्तक इस कमज़ोरी की चर्चा करते हुए अम्बेडकरवादी और अस्मितावादी दलित आन्दोलन के समक्ष आत्मसमर्पण की मुद्रा में हैं, और कम्युनिस्ट आन्दोलन में दलित लक्ष्य के लिए की गयी कुर्बानियों को नज़रअन्दाज़ करने पर आमादा हैं। लेकिन यह कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक सही आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं है। सही विश्लेषण हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि जो कम्युनिस्ट आन्दोलन कभी सही विचारधारात्मक अवस्थिति नहीं अपना सका, जो कभी अपने देश की ठोस परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर कभी क्रान्ति का कार्यक्रम नहीं तैयार कर सका, जो रणनीति और आम रणकौशल के मसलों पर विदेशी नेतृत्व पर अपनी मानसिक निर्भरता के कारण लगातार गम्भीर चूकें करता रहा, उससे यह उम्मीद भी नहीं की जा सकती है कि वह जाति के जटिल प्रश्न का कोई सन्तुलित मूल्यांकन पेश करे। कम्युनिस्ट आन्दोलन मार्क्सवादी अप्रोच और प्रणाली से जाति प्रश्न का सही विश्लेषण नहीं कर सका। कभी बचकाने

तरीके से जाति व्यवस्था को मूलाधार से सम्बन्धित बता दिया गया तो कभी अधिचरना से। कभी जाति को ही वर्ग बता दिया गया तो कभी दोनों को एकदम असम्बद्ध घोषित कर दिया गया।

अन्त में, जाति उन्मूलन की एक नयी समाजवादी परियोजना प्रस्तावित की गयी। इसे दो हिस्सों में रखा गया। एक हिस्सा तो दीर्घकालिक एजेण्डे का था, जिसमें समाजवादी किस प्रकार जाति के प्रश्न को आर्थिक धरातल और राजनीतिक धरातल से खत्म करता है, और किस प्रकार वह सामाजिक धरातल पर भी लम्बे एजेण्डे के साथ जातिगत विभेद को खत्म करता है, इस बात का संक्षेप में उल्लेख किया गया था। दूसरा हिस्सा फौरी कार्यभारों का था जिसमें जाति-विरोधी संगठन बनाने, मजदूर माँगपत्रकों को दलित मजदूरों की माँगों को

प्रमुख स्थान देने, अन्तरजातीय विवाहों को बढ़ावा देने, अखबारों में जाति आधारित विज्ञापनों पर रोक लगाने, सार्वजनिक स्थलों पर धार्मिक समागमों पर रोक लगाने जैसे कार्यक्रम शामिल थे।

आलेख की प्रस्तुति पूरी होने के बाद सदन से प्रथम हस्तक्षेप आमन्त्रित किये गये। नेपाल से 'नेपाल राष्ट्रीय दलित मुक्ति मोर्चा' के अग्रणी नेता तिलक परियार ने कहा कि कुछ सीमाओं के साथ आधार

आलेख ने भारत में जाति की समस्या का उत्कृष्ट विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा कि दलित प्रश्न पूरे दक्षिण एशिया का प्रश्न है और इस विषय पर कोई महाद्वीपीय मंच बनाया जाना चाहिए। उनका मानना था कि अलग से दलित संगठन बनाये जा सकते हैं। अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से स्पष्टीकरण देते हुए अभिनव ने कहा कि दलित मुक्ति के लिए ऐसे संगठन नहीं बनाये जाने चाहिए जिसकी सदस्यता महज़ दलितों तक सीमित हो। इसकी सदस्यता हर उस व्यक्ति के लिए खुली होनी चाहिए जो दलित मुक्ति के लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध हो। अन्यथा, वह आन्दोलन अस्मितावादी राजनीति के पंककुण्ड में जा गिरेगा। लेकिन इस बात पर सहमत जतायी गयी कि व्यापक दलित आबादी के बीच कम्युनिस्ट नेतृत्व के प्राधिकार को स्थापित करने के लिए लगातार वर्ग दृष्टिकोण से उनके बीच राजनीतिक प्रचार की ज़रूरत है।

महाराष्ट्र से आये 'रिपब्लिकन पैथर्स' के सदस्य शरद गायकवाड़ ने कहा वह अम्बेडकर के मसले पर आधार आलेख से सहमत नहीं हैं। आज मजदूर वर्ग और दलितों के आन्दोलन का नारा लाल सलाम के साथ-साथ "जय भीम" भी होना चाहिए। शरद गायकवाड़ ने कहा कि अम्बेडकर की इण्डिपेण्डेण्ट

लेबर पार्टी एक लाल झण्डे वाली पार्टी थी। उनके अनुसार केवल दलित ही दलित का दर्द समझ सकता है और इसलिए उसकी मुक्ति के लिए बोलने का प्राधिकार भी उसके पास ही है। संगोष्ठी के आयोजकों ने स्पष्ट किया कि अम्बेडकर से आज का मजदूर आन्दोलन और यहाँ तक कि दलित आन्दोलन क्या ले सकता है, यह स्पष्ट किया जाना चाहिए। दलित अस्मिता को स्थापित करने के सिवा अम्बेडकर के पास दलित मुक्ति की कोई परियोजना नहीं थी। सिर्फ भावनाओं के धरातल पर और दलित आबादी के तुष्टिकरण के लिए एक ग़लत सोच को कैसे अपनाया जा सकता है। दलित आबादी भी इस तुष्टिकरण की राजनीति को समझती है और इससे आज तक उन्हें कोई भी अपने साथ जोड़ नहीं पाया है। आज ज़रूरत है कि वर्ग दृष्टिकोण के साथ दलितों के बीच राजनीतिक प्रचार कर उन्हें गोलबन्द किया जाय। अम्बेडकर की 'इण्डिपेण्डेंट लेबर पार्टी' कोई लाल झण्डे वाली पार्टी नहीं थी, बल्कि अम्बेडकर पर फेबियन समाजवाद के प्रभाव का नतीजा थी, जिसका मार्क्सवाद से ताल्लुक नहीं है। यह समझने की ज़रूरत है कि अम्बेडकर को कोई पवित्र वस्तु नहीं बना दिया जाना चाहिए, जो आलोचना से परे हो। उनके विचारों पर विस्तार से चर्चा की जानी चाहिए।



संगोष्ठी में बात रखते हुए जे.एन.यू. से आये प्रो. तुलसी राम

पश्चिम बंगाल से 'सेण्टर फॉर सोशल साइंस स्टडीज़' से आये प्रस्कन्न सिन्हारे ने कहा कि आधार आलेख में दलित समस्या को उनकी जगह पर खड़े होकर नहीं समझा गया है और पूरे देश में दलितों को एकसमान समझ लिया गया है। जबकि दलित आबादी देश के अलग-अलग हिस्सों में बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। उनको एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता है, बल्कि उनकी अपनी अलग-अलग स्थिति से ही देखा जा सकता है। संगोष्ठी आयोजकों की ओर से अभिनव ने स्पष्ट किया कि आधार आलेख की मुख्य विषयवस्तु दलित जातियों के बीच देश पैमाने पर मौजूद अन्तर नहीं था। निश्चित तौर पर, देश के अलग-अलग हिस्सों में दलित जातियों के चरित्र और स्थिति में बहुत अन्तर है। लेकिन इसके बावजूद यह भी सच है कि उनका एक सामान्य एजेण्डा बनता है, और विशेष रूप से मेहनतकश दलित आबादी का एक सामान्य एजेण्डा और भी स्पष्ट तौर पर बनता है। 'सन्धति' के असित दास ने कहा वह आधार आलेख में प्रस्तुत मूल्यांकन से कुल मिलाकर सहमति रखते हैं और साथ ही जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा भी प्रशंसनीय है। लेकिन इस

बारे में आलेख में कुछ नहीं बताया गया कि अम्बेडकर और फुले जैसे व्यक्तित्वों को जनवादी कार्यभारों को पूरा करने में मित्र माना जाये या नहीं; साथ ही, जो दलित संगठन बेईमान और चुनावी राजनीति के दलदल में नहीं फँसे हैं, उनसे कोई साझा मोर्चा बन सकता है या नहीं, इसके बारे में भी स्पष्टीकरण की ज़रूरत है। संगोष्ठी के आयोजकों की ओर से अभिनव ने असित दास के समक्ष स्पष्टीकरण रखते हुए कहा कि निश्चित तौर पर समाजवादी क्रान्ति के दौर में छूटे-फटके जनवादी कार्यभारों की पूर्ति में ईमानदार दलित संगठनों के साथ मुद्दा-आधारित मोर्चा बनाया जा सकता है और बनाया जाना चाहिए; लेकिन यह एकता विचारधारात्मक और आम राजनीतिक एकता का रूप नहीं ले सकती है क्योंकि जहाँ तक दलित मुक्ति की एक वैज्ञानिक परियोजना का प्रश्न है, वह न तो अम्बेडकर के पास थी, न अन्य अस्मितावादी दलित संगठनों के पास है, चाहे वे ईमानदार ही क्यों न हों। पंजाब विश्वविद्यालय से आये प्रो. मंजीत सिंह ने कहा कि यह समझने की ज़रूरत है कि भारत में जाति व्यवस्था टूटी क्यों नहीं। पूँजीवाद ने इसे अपने तरीके से और मजबूत करने का काम किया है, क्योंकि आर्थिक तौर पर भी कई क्षेत्रों में यह पूँजीपतियों को

अतिरिक्त अधिशेष निचोड़ने का मौका देता है। उन्होंने कहा कि भारत में दास उत्पादन पद्धति, सामन्ती उत्पादन पद्धति और पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का एक मिश्रण तैयार हुआ है। जाति व्यवस्था न सिर्फ एक सामाजिक असमानता है, बल्कि वह आर्थिक असमानता की ज़मीन भी तैयार करती है। अरविन्द न्यास स्मृति की ओर से प्रो. मंजीत सिंह की बातों से सशर्त सहमति जताते हुए अभिनव ने कहा कि हर समाज में एक सामाजिक संरचना होती है, जिसमें कई उत्पादन पद्धतियाँ सहअस्तित्व में होती हैं; उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाजों में यह बात और भी जटिलता के साथ लागू होती है, लेकिन दुनिया का कोई भी समाज इस स्थिति से मुक्त नहीं है। सवाल यह है कि कई उत्पादन पद्धतियों के तन्तुबद्धीकरण (आर्टिकुलेशन) वाली सामाजिक संरचना में प्रभावी और प्रमुख उत्पादन पद्धति कौन-सी है। साथ ही, दलित मजदूरों को कई बार बंधुआ मजदूरों के तौर पर रखा जाता है। लेकिन पूँजीवाद स्वयं अस्वतन्त्र श्रम का प्रयोग करता है। मार्क्स ने जब दोहरे अर्थों में स्वतन्त्र श्रम की बात की थी, तो उन्होंने 'स्वतन्त्र' को उद्धरण चिन्हों के बीच इसीलिए रखा था ताकि 'स्वतन्त्र' शब्द का कोई शाब्दिक अर्थ न निकाल ले। पूँजीवाद का समूचा

इतिहास इस बात का गवाह है कि इसने बार-बार दास श्रम से लेकर भूदास श्रम और बेगारी तक का अतिरिक्त अधिशेष निकालने में हर उस जगह इस्तेमाल किया है, जहाँ ऐसा करना सम्भव था। भारत में जाति व्यवस्था ने कई जगह इस बात को सम्भव बनाया है। लेकिन यह अपने आपमें सामन्ती या दास उत्पादन पद्धति का प्रतीक नहीं है, बल्कि दिखलाता है कि हर सामाजिक संरचना का चरित्र ऐसा ही होता है। सिरसा से आये डा. सुखदेव हुन्दल ने आधार आलेख से सहमति जतायी लेकिन साथ ही इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि बुद्धवाद के विश्लेषण को और विस्तृत और स्पष्ट रूप में रखने की ज़रूरत थी। सुखविन्दर ने अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से स्पष्ट किया कि चूँकि आधार आलेख के फ्रेमवर्क की एक सीमा थी इसलिए इस सवाल पर बहुत तफ़सील से लिखना सम्भव नहीं था, लेकिन निश्चित रूप से यथोचित स्थान पर इस पर आगे ज़रूर लिखा जायेगा।

नेपाल की 'नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी)' की केन्द्रीय कमेटी के सदस्य और सांस्कृतिक मामलों के विशेषज्ञ डॉ. नीनू चपागाई ने कहा कि आधार आलेख एक गम्भीर विश्लेषण पेश करता है और जाति प्रश्न के नेपाल में भी मौजूद होने के बावजूद ऐसा गम्भीर

विश्लेषण देखने को कम मिलता है। लेकिन उनका मानना था कि एक अलग दलित संगठन बनाने का कम्युनिस्ट आन्दोलन से कोई अन्तरविरोध नहीं है। संगठन चाहे जैसा भी हो, राजनीति कौन सी लागू होती है, इससे फर्क पड़ता है। अगर नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में नहीं होगा तो वही संगठन पहचान की राजनीति की तरफ जा सकता है। नेपाल से आये तिलक परियार ने भी नीनू चपागाई की बात का समर्थन किया। इस प्रश्न पर अभिनव ने अरविन्द स्मृति न्यास की तरफ से बात रखते हुए कहा कि संगठन किस किस का है, इसका भी राजनीति पर प्रभाव पड़ता है। अन्यथा, लेनिन कभी इस बारे में चिन्ता नहीं जताते कि कम्युनिस्ट पार्टी के संघटन में उन्नत मंज़िलों में सर्वहारा तत्व की प्रधानता को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि यदि कोई गैर-दलित दलित मुक्ति की परियोजना से उतना ही प्रतिबद्ध है जितना कि कोई दलित, और वह इस मुहिम को अपना प्रमुख उद्देश्य मानता है, तो क्या दलित संगठन के दरवाज़े उसके लिए बन्द होंगे? ऐसा करके तो दलित संगठन स्वयं अपने सम्भावित मित्रों को खो देगा और इसकी प्रतिक्रिया में एक सिर के बल खड़ा जातिवाद पैदा होगा। ऐसे में, हमारा मानना है कि जाति-विरोधी

संगठन निश्चित तौर पर बनाये जाने चाहिए; लेकिन ऐसा संगठन जिसकी सदस्यता सिर्फ दलितों की लिए खुली हो, वह किसी भी कम्युनिस्ट पैमाने से ग़लत होगा। यह उसी उत्तर-आधुनिक तर्क की तरफ ले जायेगा कि दलित ही दलित के लिए बोल सकता है। यह अस्मितावादी राजनीति के गड्डे में गिरने के लिए अभिशप्त होगा।

पहले दिन हस्तक्षेप करने वालों में हिमाचल से आये डॉ. सुखपाल, संगरूर से नौजवान भारत सभा के सन्दीप, बामसेफ के हरिकृष्ण, 'डैफोडवैम' से आये अनन्त आचार्य, करावलनगर मजदूर यूनियन के नवीन, सिरसा से आये कश्मीर सिंह प्रमुख थे। आधार आलेख पर दूसरे दिन भी बहस जारी रही जिसमें प्रस्कन्न सिन्हारे, असित दास, सुखविन्दर, अनन्त आचार्य, नीनू चपागाई, अभिनव, सत्यम, शब्देश आदि ने हस्तक्षेप किया।

तीसरे दिन जाति प्रश्न और अस्मितावादी राजनीति से जुड़े दो आलेख प्रस्तुत किये गये। पहला आलेख कोलकाता के 'सेण्टर फॉर सोशल साइंस स्टडीज़' से आये अध्येता प्रस्कन्न सिन्हारे ने पेश किया। उन्होंने अपने आलेख 'पश्चिम बंगाल में जाति और राजनीति: वाम मोर्चे का बदलता चेहरा' में प्रदर्शित किया कि किस

प्रकार पश्चिम बंगाल में संशोधनवादी माकपा और भाकपा दलित आन्दोलन के प्रति एक सही दृष्टिकोण अपनाने में असफल रहे और किस प्रकार इस असफलता के कारण वहाँ अस्मितावादी जाति राजनीति का उदय हुआ। लेकिन साथ ही साथ उनका दृष्टिकोण था कि जाति की पहचान को कम्युनिस्टों को हूबहू अपने विश्लेषण में अपना लेना चाहिए और उसके साथ बाह्य तौर पर मोर्चा बनाना चाहिए। इस आलेख पर प्रतिक्रिया देते हुए 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' के सम्पादक अभिनव ने कहा कि यह सच है कि संसदमार्गी वाम जाति के प्रश्न को पश्चिम बंगाल में न तो समझ पाया और न सही ढंग से उठा पाया। नतीजा यह हुआ कि भारी दलित आबादी वहाँ अस्मितावादी राजनीति के दलदल में जा फँसी। लेकिन यह भी सच है कि जातिगत अस्मिता को अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार करने और उसके बाद उससे मोर्चा बनाने की राजनीति भी एक अलग किसम के अस्मितावाद की तरफ ही ले जाती। जाति के प्रश्न की विशिष्टता को समझते हुए भी वर्ग दृष्टिकोण को लागू किया जाना बहुत ज़रूरी है। दलित समस्या के समाधान के लिए जहाँ कम्युनिस्टों को अलग से इसकी विशिष्टता को समझना होगा, वहीं यह भी समझना होगा कि



संगोष्ठी में बात रखते हुए आनन्द तेलतुम्बडे

अलग-अलग दलित जातियाँ भी कोई एकाश्रमीय निकाय नहीं हैं; बल्कि वे स्पष्ट रूप से वर्ग विभाजित हैं। ऐसे में, जातिगत पहचान को अपने विश्लेषण में हूबहू अपना लेने की सोच भी अस्मितावाद का ही एक विशिष्ट संस्करण है। अगला आलेख दिल्ली विश्वविद्यालय से आयी “स्त्री मुक्ति लीग” से जुड़ी राजनीतिक कार्यकर्ता शिवानी ने प्रस्तुत किया। इस आलेख का विषय था ‘जाति, वर्ग और अस्मितावादी राजनीति’। इस आलेख में शिवानी ने प्रदर्शित किया कि अस्मितावादी राजनीति का उत्तर-आधुनिक राजनीतिक एजेण्डे से गहरा सम्बन्ध है। बल्कि कहना चाहिए कि ‘तीसरी दुनिया’ के तमाम उत्तर-औपनिवेशिक देशों में अस्मितावादी राजनीति की शुरुआत ही वैश्विक पैमाने पर उत्तर-आधुनिक एजेण्डे को आगे बढ़ाने के लिए ही की गयी थी। यह सारा गोरखधन्धा 1970 के दशक से ही शुरू हो चुका था, जब लातिन अमेरिका के देशों में स्वयंसेवी संगठनों का नेटवर्क फैलाया गया, जिनका एकमात्र मकसद था कि वर्ग चेतना को भोथरा बनाकर विभिन्न प्रकार की अस्मिताओं को बढ़ावा दिया जाय। भारत में यही काम 1990 के दशक से ज़ोर-शोर से शुरू हुआ। राजनीतिक पटल पर इस काम को एन. जी.ओ. और विश्व सामाजिक मंच जैसे उनके फोरम अंजाम दे रहे थे, जबकि अकादमिक जगत में इसी काम को सबऑल्टर्न स्टडीज़ जैसी



विचार-सरणियाँ अंजाम दे रही थीं। इस पूरी मुहिम में भारत में जाति का प्रश्न बेहद अहम बन गया और तमाम चुनावी और गैर-चुनावी संगठन इसी मकसद से खड़े किये गये कि जातिगत पहचान को बढ़ावा देकर वर्ग चेतना को कुन्द किया जाय। आज भारत में दलित मुक्ति की किसी भी परियोजना को मज़दूर आन्दोलन से जोड़ना होगा और अस्मितावादी राजनीति और चिन्तन के हर रूप का खण्डन करते हुए आगे बढ़ना होगा। इसके अतिरिक्त, कोई भी रास्ता अन्ततः दलित मुक्ति की मुहिम को एक अन्धी गली में ले जाकर छोड़ देगा।

तीसरे दिन ही प्रसिद्ध दलित चिन्तक आनन्द तेलतुम्बड़े भी संगोष्ठी में कुछ घण्टों के लिए आये। उन्होंने अपने वक्तव्य में आधार आलेख में उनके विचारों के उल्लेख पर आपत्ति की। उन्होंने कहा कि आलेख में लिखा गया है कि आनन्द तेलतुम्बड़े अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद का समन्वय करते हैं, जबकि उन्होंने ‘समन्वय’ शब्द का इस्तेमाल कहीं नहीं किया है। साथ ही उन्होंने कहा कि जब उन्होंने अपनी एक रचना में अम्बेडकर की रचना ‘जाति का उन्मूलन’ को दलितों के लिए वैसा ही बताया था जैसे कि मज़दूर वर्ग के लिए ‘कम्युनिस्ट

घोषणापत्र’ तो उनका अर्थ सिर्फ़ इतना था कि दोनों ही राजनीतिक लक्ष्यों की घोषणा करने वाली रचनाएँ थीं। उन्होंने आधार आलेख पर आरोप लगाया कि यह ब्राह्मणवादी मानसिकता से लिखा गया है और इसमें मार्क्सवाद के प्रति एक कठमुल्ला दृष्टिकोण अपनाया गया है। उन्होंने माना कि अम्बेडकर के सभी प्रयोग ‘महान विफलता’ में समाप्त हुए। लेकिन इसके लिए वह अम्बेडकर की विचारधारा को जिम्मेदार नहीं ठहराते क्योंकि उनका मानना है कि अम्बेडकर की कोई विचारधारा थी ही नहीं। वह पद्धति के तौर पर जॉन ड्यूई के प्रगतिशील व्यवहारवाद पर अमल करते थे, जिसका मूल तर्क प्राकृतिक विज्ञान जैसा है कि किसी भी परिकल्पना को प्रयोग के आधार पर परखा जाये और उसके आधार पर नयी परिकल्पना का निर्माण किया जाय। इसलिए अम्बेडकर को खारिज नहीं किया जाना चाहिए, और न ही फुले को। आनन्द तेलतुम्बड़े के

अनुसार किसी भी विचारधारा पर अमल की बजाय सही वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया जाना चाहिए। उन्होंने माना कि वह जॉन ड्यूई के अनुयायी नहीं हैं, लेकिन जॉन ड्यूई का चिन्तन विज्ञान के करीब पड़ता है। उनका मानना था कि पहचान की राजनीति का खण्डन करना व्यर्थ है क्योंकि मार्क्सवाद स्वयं भी तो एक पहचान है। आनन्द तेलतुम्बड़े का जवाब देते

हुए अभिनव ने कहा कि आलेख में आनन्द तेलतुम्बड़े के बारे में मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के समन्वय की जो टिप्पणी की गयी है, वह सही है और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आनन्द तेलतुम्बड़े ने ‘समन्वय’ शब्द का इस्तेमाल किया है या नहीं। आप जो करते हैं उसके बारे में आप क्या मानते हैं यह उतना अहम नहीं है जितना कि यह कि लोग उसे किस रूप में देखते और समझते हैं। अगर आप अम्बेडकर के अनुयायी नहीं हैं और फिर भी अम्बेडकर की हिमायत करते हैं, तो आपको बताना चाहिए कि अम्बेडकर से क्या सीखा जा सकता है, सिवाय इस सरोकार के कि वह भी जातिवाद के खिलाफ़ थे और हम भी जातिवाद के खिलाफ़ हैं? अभिनव ने कहा कि आनन्द तेलतुम्बड़े ने जॉन ड्यूई का भी अनुयायी होने से इंकार किया है लेकिन उनके व्यवहारवाद को विज्ञान के करीब बताया है। यह प्रयास मार्क्सवाद और ड्यूईवाद के बीच पुल बनाने का प्रयास है। लेकिन ऐसा हो ही नहीं सकता क्योंकि ड्यूई सचेतन तौर पर अमेरिकी उदारवाद और अमेरिकी शासक वर्ग के पक्ष में खड़े थे। वह सचेतन तौर पर मार्क्सवाद-विरोधी थे। उनका भी आनन्द तेलतुम्बड़े की तरह

ही यह मानना था कि कोई भी विचारधारा नहीं मानी जानी चाहिए और केवल तथाकथित वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया जाना चाहिए। लेकिन विज्ञान में भी अप्रोच (पहुँच) का बहुत महत्व है। केवल पद्धति वैज्ञानिकों को कभी सही नतीजों तक नहीं पहुँचा सकती। अगर ऐसा होता तो वैज्ञानिकों के बीच कभी कोई बहस नहीं होती। ड्यूई का मकसद ही यह था कि किसी भी प्रकार की विचारधारा को नकार दिया जाय और वैज्ञानिक पद्धति की आड़ में प्रतिबद्धता के सवाल को नेपथ्य में धकेल दिया जाय। यही कारण है कि आज व्यवहारवाद अमेरिकी बुर्जुआजी की प्रिय विचारधारा है। ड्यूई साफ़ तौर पर मानते थे कि क्रान्ति अर्वाचित है और धीरे-धीरे कुछ सुधार होने चाहिए और वह भी सरकार के द्वारा, जनता के द्वारा नहीं। क्योंकि ड्यूई का जनता पर कोई भरोसा नहीं था। वह सरकार के यहाँ अरज़ी देने तक ही जाते हैं। यही सारी सोच अम्बेडकर भी थी। यही कारण था कि उनका चिन्तन अरज़ियाँ देने, संविधानवाद, समझौतापरस्ती, और जनता पर अविश्वास के दायरों में ही सीमित रहा। अपनी तमाम सदृच्छाओं के बावजूद यह अम्बेडकर की विचारधारा ही थी जिसके कारण उनके सारे प्रयोग 'महान विफलता' में समाप्त हुए और आनन्द तेलतुम्बडे को यह बात समझनी चाहिए। सिर्फ़ पद्धति की बात करना और अप्रोच के सवाल को गोल कर देना ही व्यवहारवाद की निशानी है और आनन्द तेलतुम्बडे के वक्तव्य से यह ज़ाहिर होता है कि उनकी भी यही सोच है। सुखविन्दर ने तेलतुम्बडे द्वारा कम्युनिस्टों पर लगाये गये इस आरोप का खण्डन किया कि उन्होंने दलितों की मुक्ति के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाये और अम्बेडकर के प्रति उनका दृष्टिकोण सही नहीं था। सुखविन्दर ने बताया कि कम्युनिस्ट हमेशा साज़ा मोर्चा बनाने को तैयार थे और अम्बेडकर का रवैया इस प्रकार का था कि उनसे कोई मोर्चा बन नहीं पाया। उनकी अंग्रेज़परस्ती और समझौतापरस्ती किसी भी रूप में मजदूर आन्दोलन और दलित मुक्ति की मुहिम से मेल नहीं खाती थी, और उनकी विचारधारा के अनुसार चलें तो दलित मुक्ति आन्दोलन भी सुधारवाद, संसदवाद और अरज़ीवाद के गलियारों में घूमता रह जायेगा। कम्युनिस्ट जाति के प्रश्न को समझ नहीं सके इसका अर्थ यही नहीं कि उन्होंने जाति उन्मूलन के सवाल को उठाया ही नहीं। सच तो यह है कि दलितों के मुक्ति के लिए जितने कम्युनिस्टों ने संघर्ष किया और कुर्बानी दी, अम्बेडकर कहीं उसके करीब भी नहीं पड़ते। जब तेलगाना में दलितों के संघर्ष को खून के दलदल में डुबाया जा रहा था, तो अम्बेडकर इसके बारे में एक शब्द भी नहीं बोलते हैं और भारत सरकार से इस्तीफ़ा देने की बजाय विधि मन्त्री के पद पर विद्यमान रहते हैं। इसलिए आनन्द तेलतुम्बडे को इतिहास को विकृत नहीं करना चाहिए। सुखविन्दर ने कहा कि बिहार, पश्चिम बंगाल, आन्ध्रप्रदेश से लेकर कर्नाटक तक तमाम इलाकों में आज दलित सम्मान के साथ सिर उठाकर चलते हैं, तो इसका श्रेय अम्बेडकर को नहीं बल्कि कम्युनिस्ट आन्दोलन को जाता है।

अपने आखिरी वक्तव्य में आनन्द तेलतुम्बडे ने कहा

कि जो बातें उनके पहले वक्तव्य के बारे में कही गयीं, उनसे वह मोटे तौर पर सहमत हैं। साथ ही वह आधार आलेख को ब्राह्मणवादी नहीं कहना चाहते थे, उनका मकसद केवल अपने उल्लेख पर सवाल खड़ा करना था। उन्होंने कहा कि इस प्रश्न पर वह आगे बात करने का तैयार हैं। तीसरे दिन 'सन्धति' के असित दास ने भी जाति के सवाल पर अपनी प्रस्तुति दी जो कि अनुराधा गाँधी की पुस्तक की एक आलोचनात्मक समीक्षा पर आधारित थी।

चौथे दिन की शुरुआत अभिनव के आलेख 'जाति व्यवस्था सम्बन्धी इतिहास-लेखन: कुछ आलोचनात्मक प्रेक्षण' की प्रस्तुति के साथ शुरू हुआ। इस आलेख में अभिनव ने जाति के प्रश्न पर जो इतिहास-लेखन हुआ है, उसकी एक संक्षिप्त समीक्षा की। औपनिवेशिक काल से ही जाति के प्रश्न पर अंग्रेज़ इतिहासकारों और प्रशासकों ने लिखना शुरू कर दिया था। उनका लेखन जाति को समझने की जटिलता की एक तस्वीर है। उन्होंने गहरे अध्ययन के आधार पर कुछ प्रेक्षण रखे, जिनमें से कुछ सही तो कुछ ग़लत थे। आज़ादी के बाद इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों ने भी जाति के प्रश्न को समझने का प्रयास किया। इसमें इतिहासकार ज़्यादा सफल रहे क्योंकि समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण वर्तमान में कैद रहा है और ऐतिहासिक दृष्टि से उनका लेखन लैस नहीं रहा है। आगे आलेख में बताया गया कि जाति का उद्भव किस प्रकार एक आरम्भिक श्रम विभाजन और उसके बाद वर्ग विभाजन के तौर पर हुआ। इस वर्ग विभाजन को सही ठहराने के लिए ही वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में ब्राह्मणों ने वर्ण/जाति की विचारधारा खड़ी की। इस विचारधारा ने तत्कालीन वर्ग विभाजन को जाति/वर्ण विभाजन के तौर पर वैधीकरण दिया और उसे धार्मिक कर्मकाण्डीय तौर पर अशमीभूत और जड़ बना दिया। इसके बाद से समाज में उत्पादन सम्बन्धों के बदलने और उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ वर्ग विभाजन बदलते गये। लेकिन जातियों का विभाजन उस गति से नहीं बदल सकता था, क्योंकि उसका कर्मकाण्डीय अशमीभूतीकरण कर दिया गया था। नतीजतन, मध्यकाल आते-आते जाति और वर्ग एक दूसरे को पूर्णतः अतिच्छादित नहीं करते थे, बल्कि उनमें एक संगति (करेस्पॉण्डेंस) का सम्बन्ध स्थापित हो गया था। यह संगति औपनिवेशिक काल आते-आते और कमज़ोर पड़ चुकी थी, और स्वातंत्र्योत्तर भारत में पूँजीवादी विकास ने जाति व्यवस्था के साथ वर्ग विभाजन की संगति को और अधिक कमज़ोर बना दिया। आज जाति व्यवस्था के तीन मूल तत्वों यानी कि खान-पान सम्बन्धी रोक, जन्म-आधारित अनमनीय श्रम विभाजन और विवाह के रिश्ते पर प्रतिबन्ध, में से पहले दो लगभग समाप्त हो चुके हैं, और तीसरा भी कम-से-कम शहरी पढ़े-लिखे युवाओं में टूट रहा है। तीसरा पहलू कम कमज़ोर इसलिए हुआ है क्योंकि समाज में पूँजीवादी पितृसत्तात्मक ढाँचा बरकरार है, बल्कि मज़बूत हुआ है। इसका दूसरा कारण यह है कि विवाह के रिश्तों में प्रतिबन्ध बुर्जुआ सम्पत्ति को और ज़्यादा पवित्र ही बनाते हैं। इसलिए पूँजीवाद

से इसका कोई अन्तरविरोध नहीं है। जाति व्यवस्था के बने रहने का दूसरा कारण पूँजीवादी राजनीति के चुनावी समीकरण हैं, जिसमें शासक वर्ग के अलग-अलग हिस्से भी आपस में जातिगत आधार पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, और साथ ही जनता को भी वे जातिगत आधार पर बाँटकर ही राज कर सकते हैं। इस रूप में जाति की विचारधारा हर युग में अपने परिवर्तनों के साथ शासक वर्गों के हाथों में एक कारगर औज़ार साबित हुई है। आज की जाति व्यवस्था को पूँजीवादी जाति व्यवस्था कहा जाना चाहिए क्योंकि हर उत्पादन पद्धति ने अपने हितों के अनुसार जाति व्यवस्था को सहयोजित किया है, उसे समायोजित किया है और परिवर्तित किया है।

पाँचवे दिन की शुरुआत 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर के आलेख 'अम्बेडकरवाद और दलित मुक्ति' से हुई। सुखविन्दर ने अपने आलेख में प्रदर्शित किया कि अम्बेडकर के चिन्तन में कोई निरन्तरता नहीं है। सामाजिक एजेण्डे के प्रश्न पर पहले वह हिन्दू धर्म में ही सुधार करना चाहते थे; बाद में उन्होंने बुद्धवाद में धर्मान्तरण के रास्ते की वकालत की; और मरने से पहले उन्होंने इसे भी नाकाफ़ी करार दिया। उनका चिन्तन निरीश्वरवादी चिन्तन भी नहीं था और उनका मानना था कि समाज में धर्म रहना चाहिए क्योंकि इसी से समाज में कोई आचार या अच्छे मूल्य रहते हैं। इसलिए वे कम्युनिस्टों और निरीश्वरवादियों की नास्तिकता पर हमला करते थे। आर्थिक पहलू देखें तो अम्बेडकर के पास जो आर्थिक कार्यक्रम था वह पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद का ही कार्यक्रम था; बल्कि नेहरू का पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद का एजेण्डा कुछ मायनों में अम्बेडकर से ज़्यादा रैडिकल था, या कम-से-कम दिखता था। जाति के खात्मे के लिए उन्होंने जो रास्ता सुझाया वह शहरीकरण और उद्योगीकरण का था। लेकिन इतिहास ने दिखलाया है कि शहरीकरण और उद्योगीकरण ने जाति का स्वरूप बदल डाला है, लेकिन उसका खात्मा नहीं किया। अम्बेडकर राजनीतिक तौर पर पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं देते थे। उनकी राजनीति अधिक से अधिक रैडिकल व्यवहारवाद और संविधानवाद तक जाती थी। जनता इतिहास को बदलने वाली शक्ति होती है, इसमें उनका कभी यकीन नहीं था, बल्कि वे नायकों की भूमिका को प्रमुख मानते थे। इसीलिए उन्होंने जाति के उन्मूलन में बुद्धिजीवियों की भूमिका को सबसे अहम बताया है। यहाँ तक कि उनकी रचना 'जाति का उन्मूलन' में वह कहीं भी नहीं बताते कि जाति का उन्मूलन कैसे होगा; उल्टे अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जाति का उन्मूलन हो ही नहीं सकता क्योंकि ब्राह्मण ऐसा होने नहीं देंगे। जाहिर है, ब्राह्मणों से इजाज़त लेकर जाति का खात्मा नहीं हो सकता है। अम्बेडकर अन्त में बौद्ध धर्म को अपना लेने में ही दलितों की मुक्ति देख रहे थे। लेकिन इतिहास ने प्रदर्शित कर दिया है कि बौद्ध धर्म अपनाने वाले दलित नवबौद्ध कहलाये और उस धर्म में भी जाति का प्रवेश हो गया। वहाँ भी उनकी स्थिति दलितों जैसी ही बनी रही। साथ ही, अम्बेडकर का पूरा राजनीतिक कैरियर जाति के खात्मे के प्रति उनके सरोकार के बावजूद राजनीति

समझौतापरस्ती, अंग्रेज़परस्ती और अनिरन्तर चिन्तन का आईना है। ऐसे में, अम्बेडकर को आलोचना के दायरे में खड़ा किये बगैर दलित मुक्ति की परियोजना एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकती। जब तक अम्बेडकर को आलोचना से परे एक पूज्य मूर्ति बनाकर रखा जायेगा, दलित आन्दोलन एक गोल चक्कर में घूमता रहेगा।

प्रसिद्ध बुद्धिजीवी और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शिक्षक प्रो. तुलसी राम ने सुखविन्दर के आलेख से असहमति जताते हुए कहा कि अम्बेडकर के प्रति सही दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। उनके अनुसार आज अम्बेडकर को कम्युनिस्टों को अपना लेना चाहिए। अम्बेडकर ने एक वैकल्पिक इतिहास और समाजशास्त्र दिया। उन्होंने जाति के इतिहास पर जो कार्य किया वह दिखलाता है कि वह कितने बड़े बुद्धिजीवी थे। प्रो. तुलसीराम ने कहा कि अम्बेडकर का मार्क्सवाद और कम्युनिस्टों के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख का कारण कम्युनिस्टों का व्यवहार था। इसे उनके मजदूर-विरोध के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। इसीलिए उन्होंने इण्डिपेण्डेंट लेबर पार्टी बनायी, जिससे वह अपने आपको मजदूर आन्दोलन से जोड़ना चाहते थे। लेकिन बाद में, उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया बना ली। अम्बेडकर ने राजकीय समाजवाद की बात की थी, जो दिखलाता है कि वह भी समाजवाद के पक्षधर थे। उनका यह भी कहना था कि जब तक हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवाद खत्म नहीं होगा तब तक दलित समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। उनके वक्तव्य के बाद अभिनव ने प्रो. तुलसी राम के वक्तव्य पर स्पष्टीकरण रखते हुए कहा कि सवाल अम्बेडकर को खारिज करने का नहीं बल्कि यह तय करने का है उनसे क्या सीखा जा सकता है। हर वक्ता आकर यह कहता है कि हमारा रुख अम्बेडकर के प्रति नरम होना चाहिए वरना दलित कभी आपकी बात नहीं सुनेंगे। हमारा कहना है कि तुष्टिकरण और असत्य की राजनीति आज तक कम्युनिस्ट कहाँ दलितों को जीत पाये। अम्बेडकर के प्रश्न पर आत्मसमर्पणवादी और क्षमायाचक रुख अपनाने का समय अब बीत चुका है क्योंकि इससे पहले ही बहुत नुकसान हो चुका है। अभिनव ने कहा कि प्रो. तुलसी राम ने अम्बेडकर को एक महान अध्येता बताया लेकिन यह नहीं बताया कि उनके वैकल्पिक इतिहास और राजनीति में क्या सही था? अगर वह राजकीय समाजवाद की बात कर रहे हैं, तो यह वास्तव में राजकीय पूँजीवाद था। "राजकीय समाजवाद" जैसी कोई चीज़ नहीं होती। समाजवाद का असली पैमाना होता है राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र। अगर पूँजीवादी राज्यसत्ता के तहत सबकुछ पब्लिक सेक्टर के तहत हो तो वह समाजवाद नहीं हो जाता। अम्बेडकर का पूरा आर्थिक कार्यक्रम इसी राजकीय पूँजीवाद पर समाप्त हो जाता था। जहाँ तक बात है बौद्ध धर्म में धर्मान्तरण के ज़रिये हिन्दू धर्म का खात्मा करने का, तो इस रास्ते की विफलता आज सामने आ चुकी है। अम्बेडकर कम्युनिस्टों के व्यवहार से नहीं चिढ़े थे, वे कम्युनिस्टों की विचारधारा से नफरत करते थे। यही कारण था कि उन्होंने मार्क्सवाद को 'सुअरों का दर्शन' कहा था। वास्तव में, यहाँ

अम्बेडकर ड्यूई के सच्चे अनुयायी की तरह बात कर रहे थे। अम्बेडकर अगर आज जीवित होते तो वह खुद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से किसी भी किस्म के मोर्चे के खिलाफ होते। यही उनकी सोच थी। अभिनव ने कहा कि जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में भी प्रो. तुलसीराम ने महज एक दृष्टिकोण रखा है, जो उनकी सोच को पुष्ट करने में सहायता करे, जबकि उन सभी ऐतिहासिक प्रश्नों पर मार्क्सवादी इतिहासकारों में लम्बी और गम्भीर बहस है। अगर आज सबसे अधिक मान्य और प्रमाणों द्वारा पुष्ट इतिहास-लेखन को देखें, तो पता चलता है कि अम्बेडकर की जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में समझदारी बेहद कमजोर थी, और उनका अध्ययन भी बेहद कमजोर था। मार्क्सवाद के बारे में भी अम्बेडकर की कोई समझदारी नहीं थी और मार्क्सवादी के बारे में उनकी ज़्यादातर विरोधी टिप्पणियाँ यही बताती हैं, कि वह बिना पढ़े बोल रहे थे। इसलिए अम्बेडकर से क्या सीखा जाय और क्या नहीं इसके

बारे में नाम लेकर और विशिष्ट तौर पर बात होनी चाहिए, अन्यथा ऐसी कोई भी अपील वास्तव में तुष्टिकरण की राजनीति होगी।

पाँचों दिन जो बहस जाति प्रश्न पर चलती रही, उसने दिखलाया कि इस प्रश्न पर पाँच दिन भी कम थे बात करने के लिए। जितने सवालों के जवाब मिले उतने ही नये सवाल भी खड़े हुए। अरविन्द स्मृति न्यास की तरफ से आखिरी दिन संगोष्ठी के समापन पर बोलते हुए सत्यम वर्मा ने कहा कि आगे भी इस विषय पर संवाद की ज़रूरत इस संगोष्ठी ने सिद्ध कर दी है। और आगे अरविन्द स्मृति न्यास की तरफ से इस विषय पर संगोष्ठियों, विचार-विमर्श और परिचर्चा आदि का आयोजन किया जायेगा। संगोष्ठी के दौरान द्वितीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेखों के संकलन का लोकार्पण भी किया गया। संगोष्ठी का समापन सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के गीत “अभी लड़ाई जारी है...” के साथ किया गया।

## विश्व पटल पर

# अमेरिका की बन्दूक-संस्कृति आदमखोर पूँजीवादी संस्कृति की ही ज़हरीली उपज है

पिछले साल 14 दिसम्बर को अमेरिका के कनेक्टिकट राज्य के सैण्टी हुक प्राथमिक विद्यालय में एक बीस वर्षीय लड़के एडम लांजा ने सल्टाइस लोगों को अपनी गोलियों का निशाना बनाया जिसमें छह वर्ष के आसपास की उम्र के बीस बच्चे शामिल थे। इस नृशंस वारदात के एक घण्टे पहले एडम लांजा ने अपनी माँ को भी गोलियों से भून दिया था। अमेरिकी सपने के सब्ज़ाग दिखाने वालों को यह घटना बेहद हैरतअंगेज़ लगी और वे सिर पीटते हुए यह सवाल पूछते नज़र आये कि भला अमेरिका जैसे विकसित और सभ्य समाज में इस किस्म की बर्बरता कैसे पनप सकती है! परन्तु अमेरिकी समाज की असलियत जानने वालों के लिए यह बर्बर घटना कोई अपवादस्वरूप होने वाली घटना नहीं थी। अमेरिका में हर साल इस किस्म की घटनाएँ किसी न किसी राज्य में घटित होती रहती हैं जिनमें कोई अनजान बन्दूकधारी अन्धाधुंध गोलियाँ चलाकर बेगुनाह लोगों का क़त्ले-ए-आम कर देता है। जब भी ऐसी कोई नृशंस घटना घटती है तो अमेरिकी राष्ट्रपति एक भावुक भाषण देते हैं और भविष्य में ऐसी घटना न होने देने का प्रण लेते हैं। कुछ दिनों तक वह घटना मीडिया की सुर्खियों में छायी रहती है, तमाम बुद्धिजीवी और विशेषज्ञ कुछ नुस्खे सुझाते हैं और फिर धीरे-धीरे यह मसला मीडिया की सुर्खियों से भी गायब हो जाता है जब तक कि ऐसी कोई घटना फिर से घटित नहीं होती।

सैण्टी हुक की घटना के बाद भी अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत होकर एक

बेहद भावुक भाषण दिया और खुद उस विद्यालय का दौरा किया, मृतकों के परिजनों से मिलकर उनका दुख साझा किया और लगातार बढ़ रही बन्दूक-संस्कृति पर लगाम लगाने की कसमें खायीं। पूरे विश्व की मीडिया में ओबामा की इस भावुक प्रतिक्रिया पर उनकी पीठ थपथपायी गयी। भारतीय मीडिया (खासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया) के प्रतिष्ठित पत्रकार भी ओबामा की “मानवीय संवेदनायुक्त नेतृत्वकारी क्षमता” के आगे नतमस्तक होते नज़र आये। इन पत्रकारों की अमेरिका के प्रति स्वामीभक्ति इस बात से ही जाहिर होती है कि इनमें से किसी ने भी यह पूछना ज़रूरी नहीं समझा कि बराक ओबामा की मानवीय संवेदनाएँ उस समय कहाँ होती हैं जब उनके इशारे पर अमेरिकी सेना इराक़, अफ़ग़ानिस्तान, पाकिस्तान और अन्य जगहों में आम आबादी पर अंधाधुंध हवाई हमले करती है जिनमें हजारों की संख्या में मासूम बच्चों और औरतों सहित बेगुनाह लोग मारे जाते हैं। कुछ पत्रकारों ने तो कुण्ठित होकर यहाँ तक कहा कि काश भारत के प्रधानमंत्री में भी ओबामा जैसी क्षमता होती तो 16 दिसम्बर की गैंग-रेप की घटना के बाद लोग इतने आन्दोलित नहीं होते। मानो ऐसी लफ़्फ़ाजियों से ही पीड़ितों को न्याय मिल जायेगा और ऐसी घटनाओं में कमी आ जायेगी!

अमेरिका में, जैसा कि हर ऐसी घटना के बाद होता है, सैण्टी हुक की घटना के बाद भी इस परिघटना की तहों तक जाने की बजाय बहस महज इस बात पर केन्द्रित रही कि बन्दूक-सम्बन्धी कानूनों को और कड़ा बनाया जाये अथवा उन्हें और लचीला बनाया जाये। इस बहस में डेमोक्रेटिक पार्टी

से सहानुभूति रखने वाले उदारपंथी पक्ष का यह कहना होता है कि अमेरिकी समाज में इस किस्म की घटनाएँ इसलिए बढ़ रही हैं क्योंकि वहाँ बन्दूक-सम्बन्धी कानून बहुत लचीले हैं जिनकी वजह से कोई भी नागरिक बड़ी आसानी से बन्दूक खरीद सकता है। गौरतलब है कि अमेरिका की तीस करोड़ की आबादी में रजिस्टर्ड बन्दूकों की संख्या 31 करोड़ है! दुनिया में बन्दूकों से लैस सबसे अधिक जनसंख्या अमेरिका में ही है। इसलिए उदारपंथी पक्ष यह तर्क प्रस्तुत करता है कि इस खतरनाक बन्दूक संस्कृति पर लगाम लगाने के लिए बन्दूक सम्बन्धी कानूनों को और कड़ा बनाया जाना चाहिए जिससे बन्दूक आसानी से उपलब्ध न हो। इस पक्ष का यह भी कहना होता है कि अमेरिका में नेशनल राइफल एसोसियेशन जैसी बन्दूक लॉबियों पर लगाम कसने की ज़रूरत है। परन्तु यह पक्ष इस सच्चाई को जाहिर करने से कतराता है कि इस किस्म की लॉबिंग सिर्फ रिपब्लिकन पार्टी के साथ ही नहीं की जाती। डेमोक्रेटिक पार्टी इसमें किसी भी तरीके से पीछे नहीं रहती। गौरतलब है कि हालिया राष्ट्रपति चुनाव में नेशनल राइफल एसोसियेशन ने रोमनी और ओबामा दोनों को ही फण्ड दिया था।

बहस में रिपब्लिकन पार्टी से सहानुभूति रखने वाले रूढ़िवादी पक्ष का तर्क यह होता है कि अमेरिका में इस किस्म की घटनाएँ इसलिए बढ़ रही हैं क्योंकि अभी भी सभी लोगों के पास अपनी आत्मरक्षा के लिए पर्याप्त संख्या में शॉटगन और राइफलें नहीं हैं। इस पक्ष का यह मानना है कि हर नागरिक को आत्मरक्षा का अधिकार है और चूँकि राज्य द्वारा हर नागरिक को सुरक्षा मुहैया कराना असम्भव है, इसलिए नागरिकों को अपनी सुरक्षा के लिए राज्य पर निर्भर होने की बजाय खुद ही अपनी रक्षा करनी चाहिए। अतः इस पक्ष का समाधान यह होता है कि ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए बन्दूक-कानूनों को और लचीला बनाया जाना चाहिए ताकि ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में लोगों के पास बन्दूक हो जिससे वे उस वक़्त अपनी रक्षा कर पाएँ जब कोई हमलावर उन पर हमला करता है। अपने तर्क के समर्थन में यह पक्ष अक्सर अमेरिकी संविधान के दूसरे संशोधन का हवाला देता है जो सभी नागरिकों को आत्मरक्षा का अधिकार प्रदान करता है।

इन पक्षों के तर्क दरअसल समस्या की मूल वजह तक जाने की बजाय उसके लक्षणों पर ही बात करते हुए वक़्त ज़ाया करते हैं। दोनों में से कोई भी पक्ष ईमानदारी से इस बात पर विमर्श नहीं करता कि आखिर बन्दूक तो क़त्ल करने का उपकरण भर है, उपकरण अपने आप काम नहीं करता, उसको चलाने वाला कोई अभिकर्ता होना चाहिए। असली सवाल तो यह है कि अमेरिकी समाज में ऐसी मानसिकता वाले लोग तेज़ी से पनप ही क्यों रहे हैं जिनको बेगुनाहों और मासूमों का कत्ल करने में एक उन्मादी खुशी मिलती है। ये दोनों ही पक्ष यह बुनियादी सवाल नहीं उठाते क्योंकि यदि ईमानदारी से यह सवाल उठाया जायेगा तो समूचे पूँजीवादी ढाँचे और उससे पनपने वाली मानवद्रोही संस्कृति को कठघरे में रखना होगा

जिसके वे स्वयं अभिन्न अंग हैं।

अमेरिकी समाज में इस किस्म की मानसिकता क्यों पनप रही है, इस सवाल का उत्तर जानने के लिए हमें अमेरिका में पूँजीवादी विकास और उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हिंसक संस्कृति के इतिहास पर एक नज़र दौड़ानी होगी। दरअसल आधुनिक अमेरिकी समाज की नींव यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने वहाँ के मूल निवासी आदिवासियों का सफ़ाया करके उनकी कब्रों पर रखी थी। उसके बाद लाखों की संख्या में यूरोपीय लोगों का अमेरिका की ओर पलायन हुआ। अमेरिका में बस जाने वाले लोगों के औपनिवेशिक सत्ता से अन्तरविरोध की परिणति 1776 में अमेरिकी क्रान्ति के रूप में हुई। परन्तु क्रान्ति के बाद सत्तारूढ़ शासक वर्ग के खिलाफ़ अफ्रीकी अश्वेत दासों का संघर्ष भी शुरू हो चुका था। अश्वेत दासों के विद्रोहों से निपटने के लिए तत्कालीन अमेरिकी शासक वर्ग ने संविधान के दूसरे संशोधन का सहारा लेते हुए नये कानून बनाये जिनमें श्वेत कुलीन नागरिकों को अश्वेत विद्रोहियों से आत्मरक्षा के लिए आसानी से बन्दूकें उपलब्ध कराने के प्रावधान थे। इन कानूनों का दूसरा पहलू यह था कि उनमें अश्वेत दासों को बन्दूकें मिलना उतना ही कठिन बना दिया गया था। यानी ये कानून एक ओर श्वेतों का सशस्त्रीकरण सुनिश्चित करते थे वहीं दूसरी ओर अश्वेतों का निरस्त्रीकरण भी इनका लक्ष्य था। जाहिरा तौर पर इन कानूनों को पारित करवाने में अमेरिका के नवोदित हथियार उद्योगों की एक प्रमुख भूमिका रही थी। अमेरिकी गृह युद्ध और उसके बाद के दौर से बन्दूक अमेरिका की संस्कृति का अभिन्न अंग बन गयी। इसके बाद अमेरिकी हथियार उद्योग ने पीछे मुड़कर नहीं देखा और दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की करता चला गया। पूँजीवाद के संरचनात्मक संकट और तद्वर्जित विश्वयुद्धों ने इस उद्योग में चार चाँद लगा दिये और इसका मुनाफ़ा अपनी पुरानी सारी हदें पार कर गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में भारी मात्रा में बन्दूकों और अन्य हथियारों का अम्बार लग गया था। चूँकि यूरोप उस समय तबाह हो चुका था और वहाँ के बन्दूक कानून लचीले नहीं थे, इसलिए समृद्ध पूँजीवादी देशों में अमेरिका ही एक ऐसा देश बचा था जहाँ उन बन्दूकों को आसानी से बेचकर बेहिसाब मुनाफ़ा कमाया जा सकता था। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में अमेरिकी समाज में हथियारों की कम्पनियों और उनकी लॉबियों ने वहाँ पहले से ही मौजूद हिंसक संस्कृति को और बढ़ावा दिया। टीवी, अखबारों और रेडियो में ऐसे विज्ञापनों की बाढ़-सी आ गयी जो बन्दूक रखने को शान, प्रतिष्ठा और मर्दानगी से जोड़ते थे और ऐसे लोगों को हेय दृष्टि से देखते थे जो बन्दूक नहीं रखते थे और अपनी रक्षा के लिए राज्य पर निर्भर रहते थे। मिसाल के तौर पर एक विज्ञापन कहता था, “मोर फन, विद योर गन, द इयर एराउण्ड! (ज़्यादा मज़ा, आपकी बन्दूक के साथ, पूरे साल!)”। इन सबके फलस्वरूप वहाँ के समाज में बन्दूक रखना और बन्दूक चलाना आम बात हो गयी। किशोरावस्था से ही पर्स, कंधी, घड़ी आदि की तरह बन्दूक भी एक ज़रूरी समान हो गया। इसके साथ ही

साथ हिंसा का जश्न मनाते मानवद्रोही वीडियो गोम्स, टीवी सीरियल, फिल्मों इत्यादि ने अमेरिकी समाज में हिंसक मानसिकता को पालने पोसने में खाद-पानी का काम किया। पूँजीवादी विकास और तदुत्पन्न अलगाव के फलस्वरूप अमेरिका के युवाओं में घोर निराशा, हताशा और अवसाद के साथ ही साथ वीभत्स किस्म की मानवद्रोही दुस्साहसिक मानसिकता भी व्याप्त है जिसकी चरम परिणति सैण्डी हुक जैसी घटनाओं के रूप में सामने आती है। यही नहीं पूँजीवादी संकट के दौर में अमेरिका में भाँति-भाँति के नव-नात्सीवादी, नव-फासीवादी और धुर दक्षिणपंथी समूह पनप रहे हैं जो अश्वेतों के खिलाफ, मुस्लिमों के खिलाफ और प्रवासी नागरिकों के खिलाफ नफरत का जहर उगलते रहते हैं और खुलेआम हिंसा का आह्वान करते हैं। अभी पिछले ही साल विसकासिन राज्य के ओक क्रीक में ऐसे ही समूह के एक सदस्य वेड माइकल पेज ने एक गुरुद्वारे पर अंधाधुंध गोलीबारी करके सिखों का क़त्ल-ए-आम किया था।

अमेरिकी समाज पूँजीवादी विकास द्वारा जनित व्यक्तिवादी, स्वकेन्द्रित और परमाणवीय समाज का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस किस्म के सामाजिक विकास की प्रक्रिया में लोगों को एक समुदाय का हिस्सा न बताकर एक दूसरे से स्वतन्त्र एक व्यक्ति

के रूप में देखने की आदत डाली जाती है। ऐसे में हर समस्या को सामूहिक रूप से निपटने की बजाय व्यक्तिगत स्तर पर सुलझाने के लिए आग्रह किया जाता है। आत्मरक्षा की समस्या के लिए सबके पास बन्दूक रखने का समाधान ऐसे ही आग्रह का उदाहरण है।

अमेरिकी समाज की हिंसक संस्कृति के इस संक्षिप्त इतिहास से यह बात स्पष्ट है कि समस्या कहीं ज्यादा गहरी और ढाँचागत है और उसके समाधान के रूप में जो क़वायदें की जा रही हैं वह मूल समस्या के आस-पास भी नहीं फटकतीं। जो लोग बन्दूक कानूनों में सख्ती लाने की बात करते हैं वे इस जटिल और गम्भीर समस्या का सतही समाधान ही प्रस्तुत करते हैं और निहायत ही बचकाने ढंग से ऐसी घटनाओं के लिए बन्दूक के उपकरण को ज़िम्मेदार मानते हैं। ऐसा पहली बार नहीं हो रहा है जब बन्दूक कानूनों में सख्ती लाने की कवायदें की जा रही हैं। पहले भी इस किस्म के नियन्त्रण लाने की बातें होती रही हैं। कुछ कानूनी बदलाव भी होते रहे हैं, परन्तु इन नियन्त्रणों का कुल परिणाम यह होता है कि अश्वेतों और अल्पसंख्यकों का निरस्त्रीकरण होता है जबकि कुलीन श्वेत अमेरिकी धड़ल्ले से बन्दूक लेकर घूमते हैं और उनमें से ही कुछ लोग सैण्डी हुक जैसे नरसंहार अंजाम देते हैं।

## विश्व पटल पर

# आर्कटिक पर कब्जे की जंग

## ● विराट

पिछले पचास वर्षों में आर्कटिक महासागर की बर्फ लगातार तेज़ गति से पिघलती जा रही है और इसके गर्भ में छिपे असीम तेल व प्राकृतिक गैस के भण्डार अब विश्व के सामने आ रहे हैं। इस कारण इसके आस-पास के सभी साम्राज्यवादी देशों में इन तेल भण्डारों के दोहन को लेकर ज़बर्दस्त तनातनी चल रही है।

आर्कटिक क्षेत्र उत्तरी ध्रुव के आसपास का बर्फ से पूरी तरह ढका हुआ क्षेत्र है। रूस, कनाडा, डेनमार्क, अमेरिका, नोर्वे, आइसलैण्ड, स्वीडन आदि देशों की सीमाओं से घिरे इस क्षेत्र की बर्फ लगातार पिघलती जा रही है। इसका मुख्य कारण बेशक ग्लोबल वॉर्मिंग है और इसके अतिरिक्त शीत युद्ध के दौरान हुए परमाणु परीक्षण भी हैं। पर्यावरण की दृष्टि से यह क्षेत्र काफी महत्वपूर्ण है और इसे अक्सर पृथ्वी का एयर कण्डीशनर कहा जाता है। चूँकि यह पूरा इलाका बर्फ से ढँका हुआ है इसलिए जो सूर्य की किरणें इस पर पड़ती हैं वे परावर्तित होकर वापस लौट जाती हैं। इसलिए यह क्षेत्र पृथ्वी को ठण्डा रखने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वैज्ञानिकों का दावा है कि इस क्षेत्र में कम से कम 90 बिलियन बैरल तेल के भण्डार हैं। यह विश्व के अनखोजे तेल का लगभग 13 प्रतिशत है। वहीं प्राकृतिक गैस का भी अब तक

न खोजी गई गैस में से 30 प्रतिशत होने का अनुमान है। अब इसी कारण से विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच इस क्षेत्र के बँटवारे को लेकर मतभेद चल रहे हैं। रूस, अमेरिका, कनाडा, डेनमार्क, आदि सभी देश जो इस क्षेत्र को घेरे हुए हैं इसे लूटने के लिए हर सम्भव कोशिश करने में लग गए हैं चीन भी अब इस क्षेत्र में लगातार अपनी नाक घुसेड़ रहा है। आर्कटिक क्षेत्र इन सभी देशों की विदेश नीतियों का मुख्य मुद्दा बना हुआ है। चीन का कहना है कि यदि वह आर्कटिक क्षेत्र से सटा हुआ नहीं है तो कम से कम उसके पास तो ज़रूर ही है अतः उसे भी इस क्षेत्र के संसाधनों की लूट में बराबर का हिस्सा मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रीनलैण्ड (एक स्वशासित राज्य जो डेनमार्क के अधिकार में है) में भी बर्फ के पिघलने से अनेक दुर्लभ खनिज मिले हैं जो मोबाइल फोन बनाने व संचार व्यवस्था के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस कारण से ये सभी देश ग्रीनलैण्ड की तरफ भी खूब आकर्षित हो रहे हैं। चीन बड़े-बड़े व्यापारिक प्रस्ताव लेकर लगातार यहाँ के दरवाजे खटखटा रहा है। वहीं दूसरी ओर यूरोपीय संघ के उपाध्यक्ष अन्तोनियो तजानी भी जून में सैकड़ों मिलियन डॉलर लेकर दौड़ते-दौड़ते ग्रीनलैण्ड पहुँचे। उनकी यह माँग थी कि चीन को यहाँ के खनिज लूटने के एकनिष्ठ अधिकार न दिये जाएँ।

अमेरिका की हिलैरी क्लिंटन भी पीछे नहीं रही और वह भी अपना जनवादी चेहरा लिए ग्रीनलैण्ड जा पहुँची। दक्षिणी कोरिया के राष्ट्रपति ली-म्युंग-वका भी यहाँ गए। आर्कटिक क्षेत्र केवल अपने तेल के भण्डारों के कारण ही साम्राज्यवादी महत्व नहीं रखता बल्कि इसके अलावा और भी कई कारणों से महत्व रखता है। आर्कटिक की बर्फ पिघलने से उत्तर-पश्चिमी दरों के खुलने की भी सम्भावना बन गई है। यदि यह दरें खुल जाते हैं तो इससे पूर्वी देशों और पश्चिमी देशों के बीच की समुद्री यात्रा की दूरी बेहद कम हो जायेगी। टोकयो से न्यूयार्क जाने की यात्रा में 3,200 किलोमीटर की बचत होगी। जापान से हॉलैंड की दूरी जो स्वेज़ नहर के रास्ते से 21,000 किलोमीटर है, उत्तर पश्चिमी दरों के खुलने से वह महज़ 13,000 किलोमीटर रह जायेगी। चूँकि ये सभी साम्राज्यवादी देश यात्रा के समय और लागत को कम से कम करना चाहते हैं इसलिए ये ज़बर्दस्ती भी इस दरों को खोलने से पीछे नहीं हटना चाहते। रूस बड़े-बड़े आइसब्रेकर लेकर मार्ग बनाने को तैयार है वहीं कनाडा भी इस मार्ग पर पूरी तरह से अपना अधिकार बता रहा है ताकि इस मार्ग से मिलने वाले कर उसकी झोली में जाएँ। इन साम्राज्यवादी देशों को आर्कटिक क्षेत्र को दोहन करने के लिए सबसे पहली कठिनाई है वहाँ की बर्फ। जब तक यह बर्फ यहाँ से नहीं हटाई जाती तब तक तेल का दोहन करने में काफी परेशानी है। इसलिए ये देश बर्फ पिघलाने के लिए गर्म पानी के विशालकाय होजर्स इस्तेमाल करने के लिए तैयार हैं। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि आर्कटिक क्षेत्र की बर्फ सूर्य की किरणों को परावर्तित करके धरती का तापमान सामान्य रखती है, इसलिए बर्फ पिघलने का सीधा सा मतलब है कि सूर्य की ऊष्मा को लगातार पानी के द्वारा सोखा जाना और आर्कटिक

क्षेत्र का पृथ्वी के तापमान को सामान्य न रख पाना। इसके अतिरिक्त, तेल निकालने की प्रक्रिया से भारी मात्रा में मीथेन गैस निकलेगी जो कि अभी बर्फ से ढँके होने के कारण कोई हानि नहीं करती। लेकिन जब यह बाहर निकलेगी तो भारी मात्रा में पर्यावरण को हानि पहुँचाएगी। मीथेन गैस स्वयं एक ऐसी गैस है जो ग्लोबल वार्मिंग के लिए जिम्मेदार है। इस गैस में कार्बन-डाई-ऑक्साइड से बीस गुना ज्यादा ऊष्मा पैदा करने की क्षमता होती है। जैसे तो इस गैस का इस्तेमाल किया जा सकता है पर साम्राज्यवादियों को इससे ज्यादा मतलब नहीं है क्योंकि इसके लिए उन्हें महँगी पाइपलाइन बिछानी पड़ेगी जिसमें उनकी बिल्कुल भी दिलचस्पी नहीं है। फिलहाल उनका मुख्य लक्ष्य तेल है जिसको आसानी से कण्टेनरों में भरकर रखा जा सकता है। इस तरह से यह साफ है कि ये सभी साम्राज्यवादी देश अपने साम्राज्यवादी हितों को लेकर बदहवास हो रहे हैं और कुछ भी करने को तैयार हैं। जैसे तो अमेरिका पर्यावरण को बचाने को लेकर और ग्लोबल वार्मिंग के मुद्दे को लेकर हमेशा ही नौटंकी करना रहता है लेकिन अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए सबसे पहले पर्यावरण का शत्रु बन जाता है। जैसे भी प्राकृतिक संसाधनों के बँटवारे को लेकर हमेशा से ही साम्राज्यवादी देशों के बीच कुत्ता-घसीटी रही है। यही साम्राज्यवाद का चरित्र है। साम्राज्यवाद जो पूँजीवाद की चरम अवस्था है वह हमें बर्बादी के सिवा और कुछ नहीं दे सकता। जब इसे मानवता की ही कोई चिन्ता नहीं है तो फिर पर्यावरण की चिन्ता का ही क्या मतलब रह जाता है। इस व्यवस्था का एक-एक दिन हमारे ऊपर भयंकर श्राप की तरह है। पर्यावरण की चिन्ता भी वही व्यवस्था कर सकती है जिसके केन्द्र में मानव हो न कि मुनाफ़ा।

## आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

“आह्वान” सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी किस्म का समझौता किये “आह्वान” सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। आपको मालूम हो कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में “आह्वान” अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर सहयोग कर सकते हैं। 2. अपने मित्रों को “आह्वान” की सदस्यता दिलवायें। 3. “आह्वान” के मद में आर्थिक सहयोग भेजें। और “आह्वान” के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र प्रेषित कराने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि निम्नलिखित खाता नं. में भी प्रेषित कर सकते हैं। यह ज़रूरी है कि आर्थिक सहयोग भेजते समय हमें सूचित अवश्य कर दें।

प्रति – मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, खाता नं. – 21360100010629

साभिवादन,  
सम्पादक

# उद्यमशीलता, पूँजी-निर्माण एवं बचत की आड़ में मेहनतकशों के श्रम की लूट की माँग!

● गजेन्द्र

दिनांक 15 फरवरी, 2013 को ठीक फरवरी माह में प्रस्तुत होने वाले बजट से पूर्व देश के वित्तमन्त्री पी.चिदम्बरम ने देश के पूँजीपतियों के संगठनों सी.आई.आई.ए.फिक्की एवं एसोचैम के साथ एक मीटिंग की जिसका उद्देश्य था बजट को इन संगठनों एवं पूँजीपतियों की ज़रूरतों के अनुसार बनाया जा सके।

इस पूर्व बजट मीटिंग में इन संगठनों के प्रमुखों ने जो बातें कहीं उसमें सबसे मुख्य बात यह थी कि इन्होंने उच्च आय वर्ग के लोगों पर कम टैक्स लगाये जाने की बात की एवं इसके समर्थन में तर्क यह दिया कि अधिक टैक्स लगाने से इनकी उद्यमशीलता कम होगी तथा बचत एवं पूँजी निर्माण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। साथ ही निवेशक भी कम टैक्स दर वाले देशों जैसे सिंगापुर, दुबई एवं लंदन में पलायन कर जायेंगे। इससे विकास की गति दुष्प्रभावित होगी। इसके अलावा उन्होंने उत्तराधिकार कर (इनहेरिटेन्स टैक्स) न लगाये जाने की वकालत की, इसके पीछे तर्क यह था कि ये विकसित देशों की परम्परा है।

हम इन तमाम बिन्दुओं एवं मुद्दों पर बाद में बात करेंगे। पहली ध्यान देने योग्य बात यह है कि आखिर क्यों दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र कहलाने वाला देश बजट बनाने से पूर्व बहुसंख्यक जनता अर्थात् किसान, मजदूर एवं मेहनतकश वर्ग से कोई सलाह नहीं लेता जिनसे प्रत्येक चुनावों में बड़े-बड़े वादे किये जाते हैं और क्यों इनकी जगह मात्र पूँजीपतियों के संगठनों से सलाह करना आवश्यक समझता है। पहली बात तो इस देश में किसानों, मजदूरों एवं मेहनतकश वर्गों के अपने कोई संगठन ही नहीं हैं और जो हैं भी उनसे सरकार सलाह लेती नहीं है। वैसे भी ये संगठन सही मायने में किसान, मजदूर एवं मेहनतकश वर्ग का न तो प्रतिनिधित्व करते हैं और न ही उनकी वकालत करते हैं। ये उल्टे सरकार, पूँजीपतियों एवं दलालों के पिछलग्गू होते हैं और हमेशा उन्हीं के हितों की बात करते हैं। बजट पूर्व तमाम सरकारों द्वारा पूँजीपतियों के मंचों से राय-मशविरा करने से साफ़ हो जाता है कि ये सरकारें इन संगठनों की 'मैनेजमेण्ट कमेटी' के रूप में काम करती हैं, न कि जनता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में।

अब हम उन प्रमुख बिन्दुओं एवं मुद्दों पर लौटते हैं जिन पर इस मीटिंग में चर्चा की गई। इनमें सबसे प्रमुख मुद्दा था कि उच्च आय वर्ग के लोगों पर कम टैक्स लगाया जाये। इसके पक्ष में तर्क दिया गया था कि अधिक कर लगाने से

इनकी उद्यमशीलता कम होगी तथा बचत एवं पूँजी निर्माण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। निवेशक कम टैक्स दर वाले देशों जैसे सिंगापुर, दुबई एवं लंदन पलायन कर जायेंगे एवं विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

यहाँ किन लोगों के लिए उद्यमशीलता, बचत एवं पूँजी निर्माण की बात की जा रही है तथा इनके क्या निहितार्थ हैं इस पर बात करने से पहले इनके अर्थों को स्पष्ट करना आवश्यक है। ये शब्द पूँजीवादी अर्थशास्त्र की देन हैं। तथा इनका अर्थ भी इसी पूँजीवादी अर्थशास्त्र के अनुसार है। साधारणतः उद्यमशीलता के कई अर्थ लगाये जाते हैं। संक्षिप्त में इसके सार को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "किसी व्यक्ति की जोखिम उठाने की वह क्षमता जिसके आधार पर वह विकास की नयी-नयी सम्भावनाओं का आविष्कार करता एवं उसे आगे बढ़ाता है।" पूँजीवादी अर्थशास्त्र में ऐसे व्यक्ति को उद्यमी व्यक्ति कहा जाता है एवं उसकी इस क्षमता को उद्यमशीलता कहा जाता है। इस उद्यमशीलता का सीधा सम्बन्ध पूँजी से होता है या यूँ कहें की पूँजी इसके लिए सबसे ज़रूरी होती है। इसलिए उद्यमशीलता को बढ़ाने के लिए पूँजी निर्माण एवं बचत की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए इस मीटिंग में उच्च आय वर्ग के लोगों पर कम टैक्स लगाने की वकालत की गयी ताकि पूँजी को बचाकर पूँजी निर्माण एवं बचत के जरिए उद्यमशीलता को बढ़ाया जा सके। यह समझना भी अति आवश्यक है कि यह बचत एवं उद्यमशीलता क्या है? पूँजी निर्माण और कुछ नहीं बल्कि पूरी शोषणकारी उत्पादन एवं वितरण प्रक्रिया के दौरान उद्यमी व्यक्तियों (पूँजीपतियों) द्वारा निचोड़ कर धन के रूप में इकट्ठा किया गया श्रम ही है।

अभी तक हमने उन शब्दों के अर्थों पर प्रकाश डाला है जिनकी वकालत इन संगठनों के प्रमुखों ने इस मीटिंग में की। अब इन शब्दों के चरित्र एवं स्वास्थ्य पर बात करते हैं। और यह स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं कि इन शब्दों का महत्व किन लोगों के लिए है और आम जनता से इनका क्या सम्बन्ध है। इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था पर बात किये बिना इन बातों को स्पष्ट नहीं जा सकता है। इस पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक चीज कुछ लोगों के हाथों में रहती है। बस ये ही लोग अपने मुताबिक उनका इस्तेमाल करते हैं। जैसे कि चुनाव को ही ले लीजिए अब जिसके पास धन है वो चुनाव लड़ सकता है बाकी लोगों के लिए इसका कोई मतलब नहीं है। इसी प्रकार उद्यमशीलता, बचत एवं पूँजी निर्माण भी कुछ दलालों एवं

पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित रहती है। इसका आम मेहनतकश जनता से कोई वास्ता नहीं होता है। हालाँकि पूँजीवादी अर्थशास्त्र इस बात का दावा करता है कि इससे पूरे समाज को फायदा होता है। इसके लिए कई तर्क भी दिये जाते हैं। जैसे कि ये उद्यमी व्यक्ति अपनी उद्यमशीलता का प्रयोग कर नये उद्योगों की स्थापना करते हैं जिसमें बचत एवं पूँजीनिर्माण द्वारा इकट्ठा किये गये धन को लगाते हैं। इससे एक तरफ लोगों के लिए रोजगार के अवसर पैदा होते हैं, दूसरी तरफ इससे राजस्व भी इकट्ठा होता है जो कि, यह दावा किया जाता है, विकास में इस्तेमाल किया जाता है।

लेकिन इस पूँजीवादी व्यवस्था एवं इसके अर्थशास्त्र की पोल उस समय बिल्कुल खुल जाती है और यह व्यवस्था पूरी तरह नंगी होकर अपनी असलियत के साथ सामने आ जाती है जब हम इसके केवल कुछ वर्षों के इतिहास पर ही नज़र डालते हैं। जब वर्ष 1991 में नयी आर्थिक नीति के तहत उदारीकरण एवं निजीकरण की नीतियाँ लागू की गई थीं तो इन्हीं बातों की दुहाई दी गई एवं वकालत की गई। इसके पीछे तर्क दिया गया था कि जब समाज के उच्च शिक्षित पर समृद्धि आयेगी तो यह रिसक समाज के निचले तबके तक जायेगी। लेकिन सच्चाई आज हमारे सामने है। जिस बात की दुहाई दी गई थी एवं तर्क दिये गये वैसा कुछ भी नहीं हुआ और जो भी हुआ वो बिल्कुल इसका उल्टा हुआ। जो भी थोड़ी बहुत जीविकोपार्जन की चीज़ें समाज के निचले तबके के पास थीं वे भी इस पूरी उदारीकरण एवं निजीकरण की प्रक्रिया में ऊपर चली गईं और समाज के निचले तबके का स्तर और भी गिर गया। अगर आँकड़ों पर एक नज़र डालें तो यह तो यह बात और भी साफ हो जाती है। खुद योजना आयोग की मानव विकास रिपोर्ट में भी इस बात को स्वीकारा गया है कि 1983 से प्रतिव्यक्ति प्रोटीनयुक्त आहार में कमी आयी है। 84 करोड़ लोग 20 रुपये रोजाना से भी कम आमदनी पर जीवन यापन करने के लिए मजबूर हैं। लगभग 18 करोड़ लोग झुग्गी-झोपड़ियों में और इतने ही फुटपाथों पर सोने के लिए मजबूर हैं। यहाँ हमारा मकसद आँकड़े इकट्ठा करना नहीं है। ऐसे आँकड़ों से तो पूरी किताब छपी जा सकती है! हमारा मकसद तो उन दलीलों एवं तर्कों की असलियत को सामने लाना है जिनकी वकालत इस मीटिंग में की गई। ये सारी सलाहें वास्तव में उन्हीं उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को जारी रखने के लिए थीं, जिनके कारण पिछले दो दशकों में अमीरज़ादे आबाद हुए हैं और मेहनतकश बरबाद हुए हैं।

ये सब कुछ बस यूँ ही इत्तेफाकन नहीं होता है। इसके कारण इस पूँजीवादी अर्थशास्त्र में ही निहित हैं। क्योंकि यहाँ उद्यमशीलता, बचत एवं पूँजी निर्माण का सम्बन्ध आम जनता से कतई नहीं होता कि वह अपनी क्षमताओं के आधार पर सामूहिक तौर पर जोखिम उठाकर समाज के विकास में कोई योगदान दे सके। यह मौका केवल इस व्यवस्था के पूँजीपतियों, दलालों एवं ठेकेदारों को ही दिया जाता है। आम मेहनतकश को इस बात के लिए मजबूर किया जाता है कि इन उद्यमी

व्यक्तियों की उद्यमशीलता को बढ़ाने में सहयोग करें। उनकी बचतों एवं पूँजीनिर्माण में सहयोग करें। और यह सहयोग आम मेहनतकश जनता अपने हाड़-मांस को खेतों एवं फैक्ट्रियों में गलाकर करती है। यह पूँजी निर्माण एवं बचतें भी मेहनतकश वर्ग का भण्डारित श्रम ही है जिसे ये पूँजीपति वर्ग पूरी शोषणयुक्त उत्पादन व्यवस्था के दौरान पूँजी के रूप में इकट्ठा कर लेता है। दोबारा फिर इसी चक्र को पूरा करने में इसे इस्तेमाल करता है। यह चक्र चलता रहता है एवं मेहनतकश वर्ग की गरीबी और दरिद्रता बढ़ती जाती है। दूसरी तरफ इन पूँजीपतियों की आय में लगातार वृद्धि होती जाती है। अर्थात् गरीबी एवं अमीरी की खाई लगातार गहराती जाती है। जबकि पूँजीपतियों एवं उनके उच्च आय वाले लोगों पर सरकार द्वारा कम टैक्स लगाया जाता है।

अर्थात् सरकार द्वारा जो खर्च, इन पूँजीपतियों के शोषण को वैधता देने के लिए एवं उसको बनाये रखने के लिए पुलिस, सेना, नौकरशाही, “राष्ट्रीय सुरक्षा”, एवं कुल मिलाकर पूरे तन्त्र पर किया जाता है उसे भी देने से पूँजीपति मना करते हैं ताकि सरकार इसे भी शोषित मेहनतकश लोगों से प्राप्त करे।

इसके अलावा इस मीटिंग में और भी बहुत से “बिन्दुओं” पर चर्चा की गई लेकिन सबका सार पूँजीपतियों पर कम टैक्स लगाना ही था। पहले ऐसे सुझाव आदि किसी बहाने से छिपा कर दिये जाते थे। लेकिन आज पूँजीपति वर्ग अपने सुझाव, जो कि सुझाव कम और निर्देश ज्यादा होते हैं, सरकार को बेशरमी के साथ खुले तौर पर देता है। इन सुझावों का मकसद पूँजीपतियों के मुनाफ़े को बढ़ाना और कायम रखना होता है, और देश की आम मेहनतकश जनता को लूटना-खसोटना होता है।

“जिस धरती पर हर अगले मिनट एक बच्चा भूख या बीमारी से मरता हो, वहाँ पर शासक वर्ग की दृष्टि से चीज़ों को समझने की आदत डाली जाती है। लोगों को इस दशा को एक स्वाभाविक दशा समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। लोग व्यवस्था को देशभक्ति से जोड़ लेते हैं और इस तरह से व्यवस्था का विरोधी एक देशद्रोही अथवा विदेशी एजेण्ट बन जाता है। जंगल के कानूनों को पवित्र रूप दे दिया जाता है ताकि पराजित लोग अपनी हालत को अपनी नियति समझ बैठें।”

—एदुआर्दो खालियानो (अर्जेण्टीना के लेखक)

## शहादत दिवस ( 27 फरवरी 1931 ) के अवसर पर चन्द्रशेखर आज़ाद - ग़रीब मेहनतकश जनता की क्रान्ति-चेतना के प्रतीक

“दुश्मनों की गोलियों का हम  
सामना करेंगे  
आज़ाद ही रहे हैं  
आज़ाद ही रहेंगे।”

अपने साथियों के एक जमावड़े के बीच किसी प्रसंग में चन्द्रशेखर आज़ाद ने ये पंक्तियाँ सुनायी थीं। कविता की ये साधारण पंक्तियाँ नहीं थीं। आज़ाद का अपने साथियों से यह वादा था, जिसे उन्होंने 27 फरवरी 1931 को पूरा कर दिखाया। गोरे दुश्मनों की गोलियों का सामना करते हुए वे शहीद हो गये। जीते-जी अंग्रेज़ उनको हाथ तक नहीं लगा सके। आज 81 वर्षों बाद भी उनकी गौरवशाली शहादत की याद मेहनतकश जनता की सच्ची आज़ादी के लिए लड़ने वाले नौजवानों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है।

हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन (एच.एस.आर.ए) के कमाण्डर-इन-चीफ चन्द्रशेखर आज़ाद के सांगठनिक कौशल, व्यावहारिक सूझ-बूझ और अदम्य साहस के बारे में बताने की ज़रूरत नहीं। काकोरी काण्ड के बाद क्रान्तिकारी संगठन के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़कर उसके पुनर्गठन का काम उन्हीं के नेतृत्व में हुआ था। उन्होंने अत्यन्त कुशलता, त्याग और साहस के साथ नौजवान क्रान्तिकारियों की टीम को संगठित, प्रेरित और सक्रिय किया। यह तो सभी जानते हैं, लेकिन चन्द्रशेखर आज़ाद के व्यक्तित्व के इस पहलू के बारे में बहुत कम लोग जानते हैं कि वे अत्यन्त कम पढ़े-लिखे होने के बावजूद एक दृढ़, विचारवान क्रान्तिकारी थे। किसी भी तर्कपूर्ण और नये विचार के प्रति वे सदा खुले रहते थे तथा पुराने रूढ़ विश्वासों और विचारों को त्यागने में वे पल भर भी देर नहीं करते थे।

आज़ाद के जीवन पर एक नज़र डालने से ही पता चल जायेगा कि एक कट्टर ब्राह्मण परिवार में पैदा होने से लेकर समाजवाद में आस्था रखने वाले एक विचारवान क्रान्तिकारी की यात्रा उन्होंने किस रफ्तार से तय की।

आज़ाद का जन्म बेहद गरीबी, अशिक्षा और धार्मिक कट्टरता में हुआ था। भगतसिंह आदि से उम्र में वे केवल एक-दो साल ही बड़े थे। वे पुस्तकों को पढ़कर नहीं, राजनीतिक



संघर्ष और जीवन संघर्ष में अपने सक्रिय अनुभवों से सीखते हुए ही उस क्रान्तिकारी दल के नेता बने जिसका लक्ष्य था भारत में धर्मनिरपेक्ष वर्गविहीन समाजवादी प्रजातंत्र की स्थापना करना। आज़ाद भगतसिंह की तरह नास्तिक तो नहीं थे, लेकिन वे शचीन्द्र नाथ सान्याल जैसे वेदान्ती या आध्यात्मिक भी नहीं थे। धर्म को निजी विश्वास की चीज़ मानते थे और सच्चे धर्मनिरपेक्षवादी की तरह उनका यहाँ पक्का विश्वास था कि राज्य को पूरी तरह धर्म से अलग किया जाना चाहिए।

यह सही है कि भगतसिंह और भगवती चरण वोहरा जैसे मध्यवर्ग के खाते-पीते घरों के शिक्षित और बौद्धिक युवाओं के एच.एस.आर.ए में भर्ती के बाद क्रान्तिकारी दल का तेज़ी के साथ वैचारिक विकास हुआ लेकिन ऐसा नहीं था कि आज़ाद उनके विचारों को आँखें मूँद कर स्वीकारते थे। आज़ाद के क्रान्तिकारी साथियों शिव वर्मा, भगवान दास माहौर, सदाशिव मलकापुरकर आदि के संस्मरणों से पता चलता है कि आज़ाद सभी दस्तावेज़ों, बयानों, परचों आदि पर ध्यानपूर्वक चर्चा करते थे और उनकी सहमति से ही वे जारी किये जाते थे। गम्भीर वैचारिक पुस्तकें

साथियों से पढ़वाकर सुनते थे और उन पर चर्चा करते थे। फिरोज शाह कोटला मैदान में सम्पन्न हुई उस ऐतिहासिक बैठक में आज़ाद शामिल नहीं हो पाये थे जिसमें हिन्दुस्तान रिपब्लिक एसोसियेशन का नाम बदल कर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन किया गया था और समाजवाद को संगठन के लक्ष्य के तौर पर स्वीकार किया गया। लेकिन इस मुद्दे पर साथियों से उन्होंने पूरी चर्चा के बाद सहमति पहले ही दे दी थी। आज़ाद के क्रान्तिकारी साथी भगवान दास माहौर ने ‘यश की धरोहर’ में बिल्कुल ठीक लिखा है कि उनका जीवन और नाम “अशिक्षा, अन्धविश्वास, धार्मिक कट्टरता में पड़ी भारतीय जनता की क्रान्ति चेतना का प्रतीक” बन गया है।

आज साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न की बेड़ियों में जकड़ी देश की मेहनतकश जनता के दिलों तक आज़ाद के अधूरे सपनों को पहुँचाना और उनकी महान शहादत से प्रेरणा लेते हुए उन सपनों को पूरा करने का संकल्प लेना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

# दुनिया के सबसे बड़े और महँगे पूँजीवादी जनतन्त्र की तस्वीर!

● अजय

पिछले दिनों देश की सर्वोच्च न्यायपालिका ने सुप्रीम कोर्ट की खण्डपीठ ने लालबती की गाड़ियों के दुरुपयोग को लेकर दायर जनहित याचिका पर सुनवाई करते हुए केन्द्र और राज्य सरकारों व केन्द्र शासित प्रदेशों से “अतिविशिष्ट” पृष्ठभूमि वाले लोगों सहित विभिन्न श्रेणी के लोगों को मुहैया कराई जा रही सुरक्षा पर खर्च का विवरण माँगा है। लेकिन जहाँ एक ओर सुप्रीम कोर्ट का ये फैसला पूँजीवादी लोकतंत्र में कुछ सीमित जवाबदेही की बात करता है वहीं दूसरी ओर सुप्रीम कोर्ट अपने वर्गीय चरित्र के अनुरूप राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उपराष्ट्रपति और अन्य संवैधानिक पदों पर आसीन लोगों को अतिविशिष्ट सूची में डाल कर, उनके ऊपर सुरक्षा के खर्च को किसी भी जवाबदेही से परे रख देता है। जैसे फैसले की सुनवाई के समय सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि अगर आम लोगों के लिए सड़कें असुरक्षित हैं तो राज्य के सचिव के लिए भी असुरक्षित होनी चाहिए। साफ है कि सुप्रीम कोर्ट के ये फैसले जनता की सुरक्षा को लेकर कम और पूँजीवादी लोकतंत्र की सुरक्षा को लेकर ज्यादा हैं क्योंकि आज जब धनिकों के इस “लोकतंत्र” की कलाई जनता के सामने खुल रही है, रोज-ब-रोज घपलों-घोटालों से लेकर महँगाई, बेरोज़गारी के बुलडोज़र जनता की छाती पर चल रह हैं, तो ऐसे संकट के समय में न्यायपालिका हमेशा लुटेरी व्यवस्था के एक कुशल रेफरी की भूमिका में कुछ उपदेश देती है, खेल के नियमों को कुछ सख्त करने की कवायद करती है, कुछ बेईमान खिलाड़ियों को खेल से बाहर करती है जिसका कुल मकसद होता है कि देश की जनता को हुक्मरानों की इस लूट-खसोट और मुनाफ़ा निचोड़ने की व्यवस्था के भ्रम से बाहर न निकलने दिया जाए। खैर, इस चर्चा को यहाँ विराम लगाते हैं और देखते हैं आखिर जनता के “जनप्रतिनिधियों” की भारी-भरकम सुरक्षा का बोझ कौन उठाता है? और देश के “जनसेवक” अपने ही जन से इतने क्यों भयभीत हैं?

“दुनिया के सबसे बड़ा जनतन्त्र” की सुरक्षा का भारी बोझ जनता पर पड़ता है। इसका छोटा-सा उदाहरण मन्त्रियों की सुरक्षा के बेहिसाब खर्च की राशि से देखा जा सकता है जो अनुमानतः 130 करोड़ सालाना बैठती है जिसमें जेड प्लस श्रेणी की सुरक्षा में 36, जेड श्रेणी की सुरक्षा में 22, वाई श्रेणी की सुरक्षा में 11 और एक्स श्रेणी की सुरक्षा में दो सुरक्षाकर्मी लगाये जाते हैं; सुरक्षा के इस भारी तामझाम के चलते भी गाड़ियों और पेट्रोल का खर्च काफ़ी बढ़ जाता है। केन्द्र और राज्यों के मन्त्री प्रायः 50-50 कारों तक के काफिले के साथ

सफ़र करते हुए देखे जा सकते हैं। वहीं जयललिता सरीखे नेता तो सौ कारों के काफिले के साथ चलते हैं। आज सड़कों पर दौड़ने वाली कारों में 33 प्रतिशत सरकारी सम्पति हैं जो आम लोगों की गाड़ी कमाई से धुँआ उड़ाती हैं। जैसे भी पिछले साल सभी राजनीतिक दलों के दो सौ से ज्यादा सांसदों ने बाकायदा हस्ताक्षर अभियान चला कर लालबती वाली गाड़ी की माँग की। साफ है कि कारों का ये काफ़िला व सुरक्षा-कवच जनता में भय पैदा करने के साथ-साथ उनको राजाओं-महाराजाओं के जीवन का अहसास भी देता है।

वैसे एक गैर-सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक “अतिविशिष्ट” तीस फीसदी लोग ऐसे हैं जिन्हें इस स्तर की सुरक्षा की कोई ज़रूरत नहीं। वहीं लगभग पचास फीसदी “अतिविशिष्ट” लोग ऐसे हैं जिन्हें हल्की सुरक्षा पर्याप्त होगी। अभी हाल में जिस चर्चित हेलिकॉप्टर घोटाले की बात हो रही है वे हेलिकॉप्टर भी अतिविशिष्ट लोगों के लिए मँगाये जा रहे थे जिसकी कीमत 3600 करोड़ थी। अगर जनता और “जनसेवकों” की सुरक्षा की बात करें तो जहाँ 761 आम नागरिकों पर एक पुलिसकर्मी तैनात हैं वहीं 14,842 “खास” आदमियों की हिफ़ाज़त के लिए 47,557 पुलिसकर्मी तैनात हैं यानी एक “खास” आदमी के लिए तीन पुलिस वाले। और मजेदार बात यह है कि ये सारी सरकारी ऐयाशी सिर्फ नेताओं-नौकरशाहों तक सीमित नहीं बल्कि उनकी बीवियों से लेकर बच्चों तक को महँगे स्कूलों में लाने-ले जाने से लेकर शॉपिंग कराने तक है।

वैसे सोचने वाली बात यह है कि सुप्रीम कोर्ट ने जहाँ इन “अतिविशिष्ट” लोगों की सुरक्षा के खर्च का हिसाब मुहैया करने की बात कही है वहीं उसने राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उपराष्ट्रपति और संवैधानिक पदाधिकारियों को क्यों छोड़ दिया? साफ़ है कि सुप्रीम कोर्ट की मंशा “टिप ऑफ़ दि आइस बर्ग” को दिखाने तक है यानी हिमखण्ड की चोटी दिखाकर हिमखंड को छुपाना। क्योंकि यदि हम राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और संसद के बेहिसाब खर्च के आँकड़े देखते हैं तब हमें इस धनतंत्र का बोझ जनता की छाती पर पहाड़ के सामान दिखता है। सबसे पहले हम 340 भव्य कक्षों वाले और कई एकड़ के बागों-पार्कों वाले राष्ट्रपति भवन की चर्चा करते हैं जिसके रखरखाव पर सालाना करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। 2007 में प्राप्त जानकारी के अनुसार राष्ट्रपति भवन की पाँच साल के बिजली का बिल साढ़े 16 करोड़ था। भारत के खर्चीले एवं विलासी जनतंत्र और औपनिवेशिक विरासत के प्रति लगाव का एक जीवन्त प्रतीक

चिह्न है राष्ट्रपति भवन, जो कभी वायसराय का आवास स्थल हुआ करता था। इसके बाद प्रधानमंत्री कार्यालय पर नज़र डालें तो यहाँ का सालाना खर्च 21 करोड़ बैठता है और उनके स्पेशल प्रोटेक्शन ग्रुप के कमाण्डो द्वारा सुरक्षा व्यय करीब 270 करोड़ रुपये सालाना है। वहीं 2008-09 के दौरान केंद्रीय मंत्रालय का कुल खर्च करीब 69 खरब रुपये आँका गया है। इसका एक कारण यह भी है कि मनमोहन सिंह 50 कैबिनेट मंत्रालय सहित कुल 104 मंत्रालयों का भारी भरकम काफिला चलाते हैं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका कुल 15 मन्त्रालयों से अपना वैश्विक साम्राज्य सम्भालता है। ज़ाहिर है, हम अमेरिकी मन्त्रालय को आदर्श नहीं बता रहे हैं, बस भारतीय पूँजीवाद के अत्यधिक परजीवी चरित्र की ओर इशारा कर रहे हैं।

इसके बाद लोकतान्त्रिक राजनीति का मन्दिर कही जाने वाली संसद (जहाँ असल में बहसबाज़ी, उछलकूद, नारेबाज़ी और सोने-ऊँघने से अधिक कुछ नहीं होता) की फिजूलखर्ची पर आते हैं जिसकी एक घण्टे की कार्यवाही पर 20 लाख रुपये खर्च होते हैं। संसद की कैण्टीन इतनी सब्सिडाइज़्ड होती है कि लगभग 10 प्रतिशत मूल्य का ही भुगतान करना पड़ता है। वहीं अगर हम संसद सदस्यों के वेतन-भत्तों की पाँच साल के व्यय देखें तो ये 10 अरब के करीब बैठता है।

साफ तौर पर ये चन्द आँकड़े दुनिया के सबसे बड़े और महँगे “जनतंत्र” की असलियत को बताते हैं ऐसे में हम प्रसंगवश गांधी जी का जिक्र करना चाहेंगे जिसमें गांधी जी ने 2 मार्च 1930 को तत्कालीन अंग्रेज वायसराय को लिखे गये अपने लम्बे पत्र में ब्रिटिश शासन को सबसे महँगी व्यवस्था बताते हुए उसे जनविरोधी और अन्यायी करार दिया था। उन्होंने

लिखा था :“ जिस अन्याय का उल्लेख किया गया है, वह उस विदेशी शासन को चलाने के लिए किया जाता है, जो स्पष्टतः संसार का सबसे महँगा शासन है। अपने वेतन को ही लीजिए। यह प्रतिमाह 21,000 रुपये से अधिक पड़ता है, भत्ते आदि अलग से। आपको 700 रुपये प्रतिदिन से अधिक मिलता है, जबकि भारत में प्रतिव्यक्ति दैनिक औसत आमदनी दो आने है। इस प्रकार आप भारत की औसत आमदनी से 5 हजार गुने से भी अधिक ले रहे हैं। वायसराय के बारे में जो सच है, वह सारे आम शासन के बारे में है”।

गाँधी द्वारा उठाये गये इस सवाल की कसौटी पर जब हम आज के भारत की संसदीय शासन प्रणाली को कसते हैं तो पाते हैं कि ये औपनिवेशिक शासन से भी कई गुनी अधिक महँगी है। यह बात दीगर है कि जिस शासन-व्यवस्था के गाँधी पैरोकार थे, आज की सड़ी-गली व्यवस्था उसी की तार्किक परिणति है। ऐसे में सुप्रीम कोर्ट द्वारा जनहित याचिका के फैसले के बाद भी हमें समझने की ज़रूरत है कि पूँजीवादी संसदीय जनवाद अपनी इस खर्चीली धोखाधड़ी और लूटतन्त्र की प्रणाली में बदलाव नहीं लाने वाला है। असल में भारतीय राज्य व्यापक मेहनतकश जनता का राज्य नहीं बल्कि मुट्ठी भर पूँजीपतियों की तानाशाही वाला राज्य है। इसे स्पष्ट करने के लिए आँकड़ों का अम्बार लगाने की ज़रूरत नहीं है कि मौजूदा पूँजीवादी जनतन्त्र में जन तो कहीं नहीं है, बस एक बेहद खर्चीला तन्त्र और ढेर सारे तन्त्र-मन्त्र हैं! आम जनता के हिस्से में इसका खर्च उठाने के अलावा ग़रीबी, बेरोज़गारी, भुखमरी, अशिक्षा और कुपोषण ही आते हैं।

## भगतसिंह ने कहा...

“क्रान्ति से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट है। इस शताब्दी में इसका सिर्फ एक ही अर्थ हो सकता है—जनता के लिए जनता का राजनीतिक शक्ति हासिल करना। वास्तव में यही है ‘क्रान्ति’ बाकी सभी विद्रोह तो सिर्फ मालिकों के परिवर्तन द्वारा पूँजीवादी सड़ाँध को ही आगे बढ़ाते हैं। किसी भी हद तक लोगों से या उनके उद्देश्यों से जतायी हमदर्दी जनता से वास्तविकता नहीं छिपा सकती, लोग छल को पहचानते हैं। भारत में हम भारतीय श्रमिक के शासन से कम कुछ नहीं चाहते। भारतीय श्रमिकों को—भारत में साम्राज्यवादियों और उनके मददगार हटाकर जो कि उसी आर्थिक व्यवस्था के पैरोकार हैं, जिसकी जड़ें शोषण पर आधारित हैं—आगे आना है। हम गोरी बुराई की जगह काली बुराई को लाकर कष्ट नहीं उठाना चाहते। बुराईयाँ, एक स्वार्थी समूह की तरह, एक-दूसरे का स्थान लेने को तैयार हैं।

साम्राज्यवादियों को गद्दी से उतारने के लिए भारत का एकमात्र हथियार श्रमिक क्रान्ति है। कोई और चीज़ इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती। सभी विचारों वाले राष्ट्रवादी एक उद्देश्य पर सहमत हैं कि साम्राज्यवादियों से आज़ादी हासिल हो। पर उन्हें यह समझने की भी ज़रूरत है कि उनके आन्दोलन की चालक शक्ति विद्रोही जनता है और उसकी जुझारू कार्यवाइयों से ही सफलता हासिल होगी!...

...हमें याद रखना चाहिए कि श्रमिक क्रान्ति के अतिरिक्त न किसी और क्रान्ति की इच्छा रखनी चाहिए और न ही वह सफल हो सकती है।”

(क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा)

# किसे चाहिए अमेरिकी शैली की स्वास्थ्य सेवा?

## ● विराट

विगत जुलाई को योजना आयोग ने बारहवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत स्वास्थ्य सेवाओं और व्यवस्था पर एक मसविदा प्रस्तुत किया। इसमें भारत में कई देशों में प्रचलित स्वास्थ्य सेवाओं की तरह 'मैनेज्ड केयर' का प्रस्ताव रखा गया है जिसमें बुनियादी बात ये है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार की भूमिका स्वास्थ्य सेवा प्रदाता की न रहकर स्वास्थ्य सेवाओं के खरीददार की होगी। इस मसविदे में योजना आयोग ने 'मैनेज्ड केयर' के पक्ष में तथा भारत में स्वास्थ्य सेवा के ढाँचे को बदलने के लिए काफी कुछ पेश किया है। हम यहाँ पर एक-एक बात की तफसील से चर्चा करेंगे कि यह मसविदा (जो फिलहाल आयोग और सरकार के आपसी विरोध के चलते पुनर्विचार के लिये वापस ले लिया गया है) किस तरह सरकार की स्वास्थ्य सेवाएँ देने की जिम्मेदारी से पलायन है तथा यह जन स्वास्थ्य को किस तरह बाजार की अन्धी ताकतों के हवाले करता है तथा वैश्विक स्तर पर इस तरह की व्यवस्था के क्या अनुभव रहे हैं?

### 'मैनेज्ड केयर' क्या है?

स्वास्थ्य सेवाओं के लिए 'मैनेज्ड केयर' व्यवस्था अमेरिका सहित कई देशों में प्रचलित है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पब्लिक, प्राईवेट और कॉरपोरेट स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं का एक नेटवर्क खड़ा किया जायेगा। यह नेटवर्क प्रति व्यक्ति भुगतान की पद्धति पर काम करेगा। इसमें हर कोई एक निश्चित राशि इस नेटवर्क को पंजीकृत/बीमाकृत होने के लिए अग्रिम भुगतान के तौर पर देगा। सेवा प्रदाता का चुनाव व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। सरकार इस नेटवर्क से प्राप्त कुल धन राशि को सेवा प्रदाताओं को (चाहे वह पब्लिक, प्राईवेट या कॉरपोरेट हो) इस अनुपात के आधार पर भुगतान करेगी कि अमुक सेवा प्रदाता के यहाँ कितने व्यक्ति पंजीकृत/बीमाकृत है तथा उनसे प्राप्त होने वाली धनराशि क्या है? इस व्यवस्था के अन्तर्गत पब्लिक सेक्टर के स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं के वित्तीय पोषण की जिम्मेदारी भी सरकार की नहीं रह जायेगी।

इसके बाद इस नेटवर्क में पंजीकृत प्रत्येक व्यक्ति को एक 'आवश्यक स्वास्थ्य पैकेज' (EHP-Essential Health Package) दिया जायेगा। लेकिन इस 'आवश्यक स्वास्थ्य सेवा पैकेज' का विस्तार केवल हल्की और कम खर्चीले इलाज वाली बीमारियों तक ही सीमित रहेगा। इसके बाद पंजीकृत व्यक्ति या परिवार के पास प्रीमियम भरकर एक टॉप-अप

पैकेज लेने का प्रावधान होगा। इस टॉप-अप पैकेज का विस्तार इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रीमियम के तौर पर कितनी धनराशि का भुगतान किया गया है यानी की गम्भीर और महँगे इलाज वाली बीमारियों के लिए ज़्यादा से ज़्यादा प्रीमियम भरना होगा। अब ये सवाल तो ज़ेहन में उठना ही है कि भारत में 84 करोड़ से ज़्यादा आबादी जो 20 रुपये रोज़ाना या इससे भी कम पर गुज़र-बसर करती है उनमें से कितने लोग इस तरह का प्रीमियम भर सकते हैं।

संक्षेप में यह व्यवस्था तीन स्तरों पर बँटी होगी; प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च स्तर। प्राथमिक स्तर पर (जिसके अन्तर्गत "आवश्यक स्वास्थ्य पैकेज" देने का प्रावधान है) सामान्य रोगों का इलाज किया जायेगा। इसके बाद गम्भीर तथा खर्चीले इलाज वाली बीमारियों के लिए प्रीमियम भर कर टॉप-अप पैकेज लेकर माध्यमिक या उच्च स्तर का इलाज किया जायेगा। मोटे तौर पर 'मैनेज्ड केयर' की यह व्यवस्था इस तरीके से काम करेगी। इसके साथ ही जुलाई मसविदे में सरकार के 2007 से जारी राष्ट्रीय सुरक्षा बीमा योजना (RSBY) जो मुख्यतः बीपीएल परिवारों तक सीमित थी तथा बाद में इसे निर्माण कार्य में लगे कामगारों तक विस्तारित किया गया, ताकि ज़्यादा से ज़्यादा आबादी को राष्ट्रीय सुरक्षा बीमा योजना के तहत पंजीकृत/बीमाकृत किया जा सके। इसका मकसद यह है कि इस योजना के तहत बीमाकृत आबादी को "मैनेज्ड केयर" नेटवर्क से जोड़ा जाये।

### व्यवहार में कैसे काम करेगी 'मैनेज्ड केयर' व्यवस्था?

'मैनेज्ड केयर' व्यवस्था, जो प्रति व्यक्ति भुगतान पर आधारित है, से एक बात तो स्पष्ट है ही कि इस नेटवर्क से जुड़े सेवा प्रदाता का पूरा फोकस इस बात पर रहेगा कि वह ज़्यादा खर्चीले इलाज वाली बीमारियों के लोगों को ज़्यादा से ज़्यादा अपने नेटवर्क से जोड़े। चूँकि इस पूरी व्यवस्था में आवश्यक स्वास्थ्य पैकेज एक प्राथमिक स्तर के इलाज को ही सम्भव बनाता है तो ऐसे में जो लोग गम्भीर और जटिल व खर्चीले इलाज वाली बीमारियों से पीड़ित हैं उनके सामने दो विकल्प बचते हैं कि या तो वे प्रीमियम भरकर टॉप-अप पैकेज ले कर अपना इलाज करायें या अगर वे प्रीमियम भरने में समर्थ नहीं हैं तो फिर बीमारी से पीड़ित रहने को अभिशप्त रहें। अब गौर करने की बात है कि भारत की 77 प्रतिशत आबादी जो

20 रुपये रोज़ाना पर गुज़र-बसर करती है और इस आबादी का खून-पसीना दो जून रोटी के जुगाड़ में ही बह जाता है तो ऐसे में वह प्रीमियम भरकर अपना इलाज कैसे करा पायेगी? इस व्यवस्था में तो पब्लिक सेक्टर के स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं के वित्तपोषण की ज़िम्मेदारी भी सरकार की नहीं रह जायेगी! तो इस बहुसंख्यक आबादी के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी किसकी रहेगी? जवाब यही है कि यदि पैसा नहीं तो इलाज नहीं। दूसरी बात जो इस 'मैनेज्ड केयर' व्यवस्था का परिणाम होगी वह है स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण। आज स्वास्थ्य सेवा के पब्लिक सेक्टर की कार्यपद्धति स्पष्ट है। सरकारी अस्पतालों के हाल भी सामने हैं जहाँ एक बेड पर कई-कई मरीजों को ठूँसा जाता है। इलाज का स्तर क्या है, तकनीकी सुविधाएँ क्या हैं यह भी किसी से छुपा नहीं है। ऐसे में जब स्वास्थ्य सेवाओं के सरकारी ढाँचे के वित्तपोषण की ज़िम्मेदारी भी सरकार की नहीं रह जायेगी तो इस नेटवर्क की प्रतियोगिता में पब्लिक सेक्टर का टिक पाना नामुमकिन है। इसलिए कॉरपोरेट स्वास्थ्य सेवा पहले पब्लिक सेक्टर को निगल जायेगी फिर छोटे निजी सेक्टरों को। किन्तु यह स्वास्थ्य सेवाओं में इज़ारेदारी को नये सिरे से और अधिक बड़े स्तर पर पैदा करेगा। यह बात भी किसी से छुपी नहीं है कि कॉरपोरेट व्यवस्था का निर्धारक बिन्दु एक ही होता है और वह है मुनाफ़ा। ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़े की होड़ में ये सेवा प्रदाता ऐसी बीमारियों के इलाज में दिलचस्पी लेंगे जिनमें मुनाफ़ा ज़्यादा हो और चूँकि यह नेटवर्क प्रति व्यक्ति भुगतान पर आधारित होगा और चूँकि वास्तविक मुनाफ़ा टॉप-अप प्रीमियम से ही होगा तो ऐसे में पूरा नेटवर्क कुछ खास लोगों के इलाज पर ही ध्यान केन्द्रित करेगा, जो प्रीमियम भर सकते हैं। और आबादी के बड़े हिस्से को, जो कि बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी है, उसके हाल पर ही छोड़ दिया जायेगा। मुनाफ़े की इस अन्धी दौड़ में दुनिया के लिए सारा सुख-साधन, ऐश्वर्य पैदा करने वाली बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी का स्वास्थ्य इन कॉरपोरेट सौदागरों के लिये कोई मायने नहीं रखेगा क्योंकि वो प्रीमियम नहीं भर सकेंगे, यानी कि वे मुनाफ़ा नहीं दे सकेंगे।

जाहिर सी बात है यह पूरी व्यवस्था देश की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के स्वास्थ्य से कोई सरोकार नहीं रखती। यह व्यवस्था स्वास्थ्य सेवाओं के चरणबद्ध और सुनियोजित सम्पूर्ण निजीकरण की ओर उठाया गया कदम है जो जनस्वास्थ्य को बाज़ार की अन्धी ताक़तों के हवाले कर देगा और इस बाज़ार में वही स्वस्थ रह पायेगा जिसके पास पैसा हो, 'जिसका इलाज मुनाफ़ा पैदा कर सके।'

## अमेरिका में 'मैनेज्ड केयर' के अनुभव

स्वास्थ्य सेवा की यह प्रणाली संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित है। अब देखते हैं कि पूँजीवाद के "स्वर्ग" में इस प्रणाली के तहत आम आबादी की क्या स्थिति हुई है।

अमेरिका की कुल आबादी के करीब 28 प्रतिशत लोगों का इस नेटवर्क में कोई बीमा नहीं है और उन्हें कोई स्वास्थ्य सेवा इस नेटवर्क से प्राप्त नहीं होती। 34 प्रतिशत लोग ऐसे हैं

जो इस नेटवर्क में पंजीकृत तो हैं, परन्तु यदि उन्हें कोई गम्भीर रोग हो जाये तो इस नेटवर्क से उन्हें कोई उपचार नहीं मिल पायेगा क्योंकि वे कोई प्रीमियम भरने में असमर्थ हैं। केवल 38 प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं जो कि इस नेटवर्क से स्वास्थ्य लाभ उठा सकते हैं।

इससे हम यह साफ़ देख सकते हैं कि अमेरिका में अमीरी-ग़रीबी के बीच की खाई कितनी गहरी है। वह अमेरिका जिसने पूरे विश्व में "लोकतंत्र" स्थापित करने का ज़िम्मा अपने सिर पर उठा रखा है उसके भीतर किस तरह का लोकतंत्र है, जहाँ लोगों के स्वास्थ्य को भी बाज़ार की अन्धी ताक़तों के हाथों में छोड़ दिया गया है। अमेरिका में स्वास्थ्य सेवा पर होने वाल खर्च उसके सकल घरेलू उत्पादन का 15 प्रतिशत है जिसमें से 7.26 प्रतिशत पब्लिक सेक्टर पर खर्च होता है। स्वास्थ्य सेवा पर खर्च बढ़ने के बावजूद वास्तविक तौर पर जनता के स्वास्थ्य का स्तर लगातार गिर रहा है।

कोलम्बिया और मेक्सिको में 'मैनेज्ड केयर' का अनुभव और भी कड़वा रहा है। कोलम्बिया में 1990-1995 में स्वास्थ्य सेवा पर खर्च सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 3 प्रतिशत था। 'मैनेज्ड केयर' प्रणाली लागू करने पर 1997 तक यह खर्च सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 5.5 प्रतिशत हो गया, लेकिन वास्तविकता में लोगों के स्वास्थ्य का स्तर गिरता गया और देश की 55 प्रतिशत आबादी को भी स्वास्थ्य सेवा मुहैया नहीं कराई जा सकी।

इससे हम यह देख सके हैं कि जनता के स्वास्थ्य पर खर्च तो इस प्रणाली में बढ़ता है परन्तु लोगों को स्वास्थ्य सेवा के नाम पर कुछ भी नहीं मिलता और वास्तव में वह खर्च आम जनता पर कम और अमीरों पर ज़्यादा होता है। वैश्विक अनुभवों से यह बात साफ़ नज़र आती है कि सरकार को स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने में अधिक स्वास्थ्य सेवा खरीदना ज़्यादा महँगा पड़ता है। लेकिन यह खर्च जनता उठाती है और उससे पैदा होने वाला मुनाफ़ा स्वास्थ्य देखरेख कम्पनियों की तिजोरियों में जाता है।

## निष्कर्ष

सरकार जिस तरह से जनता की स्वास्थ्य सेवा से हाथ पीछे खींच रही है, उससे सरकार का मानवद्रोही चरित्र साफ़ सामने आता है। स्वास्थ्य का अधिकार जनता का बुनियादी अधिकार है। भारत में स्वास्थ्य का स्तर सर्वविदित है। जिस देश में पहले से ही 55 प्रतिशत महिलाएँ रक्त की कमी का शिकार हों, जहाँ 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हों, वहाँ स्वास्थ्य सेवा को बाज़ार की ताक़तों के हवाले करने के कितने भयावह परिणाम हो सकते हैं, इसे आसानी से समझा जा सकता है। सरकार के इस प्रस्तावित कदम से भी यह साफ़ हो जाता है कि ऐसी व्यवस्था के भीतर जहाँ हर वस्तु माल होती है, वहाँ जनता की स्वास्थ्य सेवा भी बिकाऊ माल ही है। जिस व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु मुनाफ़ा हो उससे आप और कोई उम्मीद भी नहीं रख सकते हैं।

क्रिस्टोफ़र नोलन की फिल्म 'डार्क नाइट राइज़ेज़' का सन्देश

## मानवता के सामने दो ही विकल्प: पूँजीवाद या अराजकता!

● सनी

'डार्क नाइट राइज़ेज़' हॉलीवुड की पिछले साल की तीसरी सबसे ज़्यादा पैसा कमाने वाली फिल्म है। तमाम बुर्जुआ अखबारों ने इसे जी भर कर सराहा है। कुछ ने इसे अमेरिकी राष्ट्रपति पद के लिए खड़े हुए रोमनी के खिलाफ प्रचार बताया क्योंकि उसकी कम्पनी का नाम बेन कैपिटल था जो इस फिल्म के खलनायक का नाम है। कॉमिक्सों, कार्टून सीरियलों, विडियो गेमों और तमाम खिलौनों के जरिये बैटमैन सरीखे 'सुपर हीरो' अमेरिका में (भारत के ख़ाये-पीये वर्ग में भी) काफ़ी चर्चित हैं। फिल्म के

डायरेक्टर क्रिस्टोफ़र नोलन ने फिल्मों की दुनिया में अपना एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। 'सुपर हीरो' फिल्म होने के बावजूद क्रिस्टोफ़र नोलन की यह फिल्म यथार्थवादी दृष्टिकोण से परिस्थितियों को पेश करती है। 'बैटमैन बिगिन्स' से शुरू होकर फिल्म की कहानी कुछ

मुख्य किरदारों की ज़िन्दगी और उनके आसपास की बदलती परिस्थितियों के ताने-बाने को पेश करती है, साथ ही उनके द्वारा इन परिस्थितियों को बदलते हुए दिखाती है। 70 एमएम (अन्य कैमरों से दुगना) आईएमएक्स कैमरे से बनी यह फिल्म आधुनिक कला का बेहतरीन उदाहरण है। कई जगह फिल्म के दृश्यों को नोलन भव्य रूप देते हैं और ये दृश्य ही फिल्म को नए मोड़ देते हैं (जैसे बैटमैन और बेन के बीच द्वन्द्वयुद्ध, बैटमैन की वापसी)। यह फिल्म मौजूदा राजनीतिक परिस्थितियों और आर्थिक परिस्थितियों का काफ़ी यथार्थवादी चित्रण करने के कारण बेहद आकर्षित करती है। चूँकि हमारा समाज वर्गों में बँटा है, अमीर-ग़रीब में बँटा है इसलिये समाज में कला के किसी भी रूप द्वारा किया जाने वाला हर यथार्थवादी चित्रण इस बँटवारे को दिखायेगा और अपना पक्ष चुनेगा। नोलन किसका

पक्ष चुनते हैं? निश्चित तौर पर हम कल्पनालोक में नहीं हैं, पिछले साल की तीसरी सबसे ज़्यादा पैसा कमाने वाली नोलन की फिल्म बुर्जुआ वर्ग के दृष्टिकोण से बनायी गयी है। इसे समझने और इसके मूल पर पहुँचने के लिए हमें फिल्म का एक ज़्यादा वस्तुपरक मूल्यांकन करना होगा। अगर किसी भी समस्या को समझना हो तो हमें उसके भौतिक अवयवों को जान लेना चाहिए। इस फिल्म के अवयव हैं फिल्म के चरित्र और उनको जोड़ती कहानी। फिल्म के चरित्रों को वर्ग के

आधार पर बाँटा जा सकता है। खुद क्रिस्टोफ़र नोलन ने कहा था कि उनकी यह फिल्म वर्ग संघर्ष को दिखाती है!

सबसे मुख्य किरदार है फिल्म का नायक, ब्रूस वेन (क्रिस्चियन बेल) जो कि एक पूँजीपति है (वेन इन्टरप्राइज़ेज़ का मालिक) व बैटमैन यानी विजिलेंटे या संरक्षक

भी है। बैटमैन शहर में अपराध के खिलाफ लड़ाई लड़ता है। सेना के शोध की उन्नत तकनीक के दम पर वह अपराधियों से अजेय है। पुलिस से अलग वह अपराधियों और गॉथम के दुश्मनों से लड़ता है। तालिया (मिराण्डा कर) एक पर्यावरण संरक्षक पूँजीपति है और साथ में बैटमैन के दुश्मन रज़ा-उल-गुल की बेटी है। डेगोट पूँजीपति है जो वेन इन्टरप्राइज़ेज़ हथियाना चाहता है। बैटमैन और उसके संरक्षण का साथ देता है कमिश्नर गॉर्डन, जो कि पुलिस अधिकारी है, जो कानून व्यवस्था को चलाता है और पूरी ईमानदारी से व्यवस्था की सेवा में जुटा रहता है। लुसियस फॉक्स (वेन इन्टरप्राइज़ेज़ का मैनेजर) टेक्नोक्रेट है जो व्यवस्था का मजबूत स्तम्भ है और बैटमैन की कम्पनी के शोध विभाग के साथ वह बैटमैन को उन्नत हथियार देता है। याद हो कि बैटमैन सीरिज़ की फिल्मों में बैटमैन को



वह एक गाड़ी, बाईक और तीसरी फिल्म में एक हवाई जहाज देता है। वहीं दूसरी और वेन फाउण्डेशन के शोध से निकले माइक्रोवेव एमिटर, सोनार तकनीक और न्युक्लिअर रिएक्टर भी हैं जो फिल्म सीरिज में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। कमिश्नर गॉर्डन, लुसियस फॉक्स और ब्रूस वेन, तीनों मिलकर ही असल में उस परिघटना का निर्माण करते हैं जिसे फिल्म में बैटमैन कहा गया है-यानी, पूँजीपति, पुलिस अधिकारी (नौकरशाह) और तकनोशाह। ब्रूस का नौकर ऐल्फ्रेड मालिक अन्धभक्ति से पीड़ित है और उसको दर्शन देता है। कैटवुमैन, सेलिना काईल निम्न मध्य वर्ग से है और चोरी करती है। बेन एक खास मध्य वर्गीय दृष्टिकोण का प्रतीक है जो इस व्यवस्था के खिलाफ है, वह अराजकतावाद का चरम बिन्दु है। वह अपनी राजनीति से लोगों को कैसे साथ लेता है फिल्म इसकी मात्र एक हल्की-सी झलक देती है। एक जगह बेन के समूह में अनाथ बेरोजगारों को भर्ती होते दिखाया है। उसके समूह से आपसी सम्बन्धों पर फिल्म की शुरुआत

में एक दृश्य है जो उसकी नेतृत्व क्षमता को दिखाता है। यहाँ वह अपने समूह के व्यक्ति को हवाई जहाज में मरने को कहता है और वह आग के उठने (प्रतीक) की बात बेन से पूछता है और खुद को कुर्बान कर देता है। वह न पैसे के लिए काम करता है और न ही किसी तरह के विलास के लिए, स्टॉक मार्केट को चोरी करने की जगह मानता है। वह बहुत अनुशासित है और लापरवाही पर अपने आदमियों को भी मार देता है। वह अपनी सोच के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध है। फिल्म में एक अन्य चरित्र डिटेक्टिव ब्लेक का है जो ईमानदार और बहादुर अफसर है और गॉर्डन का खास आदमी है।

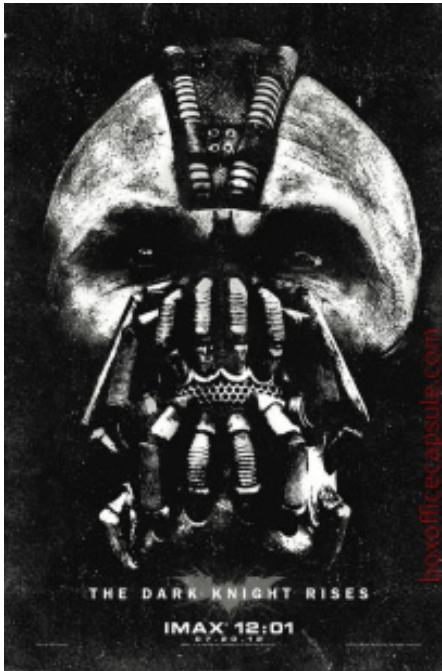
## कहानी

फिल्म अमेरिका के एक उन्नत परन्तु काल्पनिक शहर गॉथम पर आधारित है। यह शहर आम पूँजीवादी शहरों की तरह गरीबी, अपराध, ड्रग माफिया और चोरों से ग्रसित है। फिल्म की कहानी को 3 कालखण्डों में बाँट कर देखा जा सकता है। पहला, शान्ति का काल है। यहाँ ब्रूस वेन (वेन फाउण्डेशन का मालिक, जो कि लम्बे समय से शहर की अर्थनीति की मुख्य ताकत है) बैटमैन बनना छोड़ चुका है और महज अँधेरे और अकेलेपन में जी रहा है हालाँकि वह वापस बैटमैन बनने के लिए तैयार है। कमिश्नर गॉर्डन भी हमेशा तैयार रहता है कि कब बात बिगड़े (क्योंकि फिलहाल डेंट ऐक्ट (हार्वी डेंट के नाम पर) के झूठ की बदौलत सैकड़ों अपराधी जेल के पीछे हैं) और बैटमैन मोर्चा सम्भाले! फिल्म के कुछ दृश्यों में बेन को अपनी फौज खड़ी करते दिखाया जाता है जो गॉथम शहर

की ओर बढ़ रही है। दूसरे कालखण्ड में बेन गॉथम शहर पर योजनाबद्ध तरीके से हमला करता है। बैटमैन वापसी करता है। कमिश्नर गॉर्डन पर हमला होता है। बेन स्टॉक मार्केट में ब्रूस वेन को बर्बाद कर डेगेट को वेन फाउण्डेशन का अध्यक्ष बनाना चाहता है जिससे कि उसके न्युक्लिअर रिएक्टर पर कब्जा कर सके, परन्तु ब्रूस वेन पर्यावरण संरक्षक पूँजीपति मिराण्डा को अध्यक्ष बना देता है। बैटमैन और बेन का टकराव होता है जिसमें बेन बैटमैन की कमर तोड़ देता है, उसके हथियारों पर कब्जा कर लेता है और उसे सेण्टा प्रिस्का की एक जेल में डाल देता है (इस जेल के नियम बेन बनाता है)। यह प्रसंग फ़ालतू लगता है और महज पात्र के हिसाब से फिल्म में डाला गया हिस्सा लगता है। यहीं से ही फिल्म में रज़ा-उल-गुल और बेन के सम्बन्धों को दिखाने की कोशिश की गयी है परन्तु यह सब भी काल्पनिक ज़्यादा लगता है। बेन शहर में जगह-जगह विस्फोट करता है और पूरे शहर का दूसरे शहरों से आने-जाने का रास्ता काट देता है तथा वेन फाउण्डेशन के तीन बोर्ड सदस्यों को बेन से बचाने आ रही गॉथम की सारी पुलिस को भूमिगत सीवर में फँसा लेता है। (यह बात गौर करने लायक है कि फिल्म के अनुसार महज तीन पूँजीपतियों के लिए पूँजीवादी राज्य अपनी समस्त पुलिस को उन्हें रिहा करने भेजता है) वह वेन फाउण्डेशन के नाभिकीय रिएक्टर को बम में तब्दील कर किसी भी तरह के बाहरी हस्तक्षेप या किसी के भागने की कोशिश पर पूरे शहर को उड़ाने की धमकी देता है। गॉथम में नयी “व्यवस्था” लागू की जाती है जिसे बेन “आज़ादी” कहता है। तीसरे खण्ड में बैटमैन जेल में अपनी कमर जोड़कर जेल से बाहर आता है और बेन को चुनौती देने के लिए पुलिस को आज़ाद कराता है।

बेन और अपराधियों की फौज से बैटमैन और पुलिस लड़ती है जिसमें बैटमैन बेन को हरा देता है। मिराण्डा यहाँ अपनी असलियत उजागर करती है कि वह रज़ा-उल-गुल की बेटी है और बेन के साथ मिली हुयी थी, बैटमैन उसे भी नाकामयाब कर देता है, गॉर्डन और कैटवुमैन की मदद से। फिल्म के अन्त में बैटमैन रिटायर हो जाता है, उसकी जगह लेने के लिए ब्लेक आता है जिसके नाम ब्रूस अपनी सम्पत्ति का एक हिस्सा कर जाता है (क्योंकि बैटमैन सिर्फ एक अमीर आदमी ही हो सकता है!)।

अब हमारे लिए फिल्म के दार्शनिक और राजनीतिक सन्देश को समझना आसान होगा। फिल्म मुख्यतः दो काम करती है। पहला यह अराजकतावाद की आलोचना करती है व “विजीलाण्टे” यानी संरक्षक का समर्थन करती है।



## अराजकतावाद की आलोचना

यह फिल्म पिछले साल अमरीका के हर शहर में स्वतःस्फूर्त रूप से खड़े हुए पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलन 'वॉल स्ट्रीट कब्ज़ा करो' आन्दोलन के बाद बनी है जिसका नेतृत्व मुख्यतः अराजकतावादियों के हाथों में था। यही कारण है कि फिल्म की सबसे अधिक आलोचना 'वाल स्ट्रीट कब्ज़ा करो आन्दोलन' के सदस्यों ने की है। यह फिल्म बेन के जरिये अराजकतावाद को चित्रित करती है। कैसे? आइये फिल्म के कुछ दृश्य को देखते हैं। बेन शहर पर कब्ज़ा करके जिस नयी व्यवस्था को लागू करता है उसका चित्रण भयावह है। बेन अपना पदार्पण रग्बी के खेल के दौरान स्टेडियम में करता है और वहीं वह कहता है कि कल से शहर पर लोगों का अधिकार होगा।

अगले दिन वह ब्लैकगेट जेल के आगे खड़ा होकर एक भाषण देता है, "हम गॉथम को भ्रष्ट लोगों से छीनकर अपने हाथों में लेते हैं। अमीरज़ादों से, वे जो पीढ़ियों से हमें अवसर के मिथकों के नीचे दबाते हुए आ रहे हैं और हम इस शहर को तुम्हें सौंपते हैं, जनता को! गॉथम तुम्हारा है! कोई बाधा नहीं डालेगा,

तुम्हें जो करना है वो करो! पर शुरुआत ब्लैकगेट जेल पर हमला कर उत्पीड़ितों को आज़ाद कर होगी। (दृश्य परिवर्तन-कैदी जोश में बन्दूकें लेकर निकलते हैं) आगे बढ़ो, जो सेवा करना चाहते हैं उनकी एक सेना खड़ी की जाएगी। शक्तिशाली अपने पतनोन्मुख घोसलों से खदेड़े जायेंगे और बाहर की अँधेरी ठण्डी दुनिया जिसे हम जानते हैं और जीते हैं उसमें लाये जायेंगे। न्यायालय चलाये जायेंगे, लूट का जश्न मनाया जायेगा, और खून बहेगा!" इस वाक्य के साथ कुछ दृश्य दिखाये जाते हैं जिनमें प्रतीत होता है कि गरीब और अपराधी सब मिलकर निर्ममता से अमीरों, अफसरों और प्रशासनिक अधिकारियों को घरों से घसीट कर बाहर निकालते हैं, उनके खिलाफ कोर्ट में सज़ा सुनाते रहे हैं, जिसका आम तौर पर फ़ैसला मौत होता है। यह दृश्य अपने आप में भयावह है और नफ़रत पैदा करता है। खुद सेलिना काइल (जो क्रेटवुमेन है) भी इसे ठीक नहीं मानती जो एक दृश्य में ब्रूस वेन को अमीरों के प्रति घृणा से आ रहे तूफ़ान की चेतावनी देती है। यहाँ यह बात ध्यान देने लायक है कि फिल्म पूँजीवाद की बुराइयों और उसके कारण मजदूर वर्ग पर हो रहे शोषण को भी बेहद साधारण शब्दों में समेट देती है। फिल्म इस बात को छिपाने का प्रयास नहीं करती कि पूँजीवादी समाज में गरीबी, पतन, अपराध नैसर्गिक रूप से पैदा होते हैं। लेकिन साथ ही यह सन्देश भी देती है कि इसका

कोई विकल्प नहीं है। अगर इसका विकल्प पेश करने की कोई कोशिश की जायेगी तो वह अन्त में बेन की "आज़ादी" जैसी किसी बर्बर अराजक व्यवस्था में समाप्त होगी। इसलिए आप ज़्यादा से ज़्यादा यह कर सकते हैं कि गरीबी, अपराध और ग़ैर-बराबरी से ग्रस्त पूँजीवादी समाज में ही सुधार और कानून-व्यवस्था कायम रखने का प्रयास करें और इसी के लिए सिर्फ़ पुलिस और फ़ौज काफ़ी नहीं है, बल्कि बैटमैन जैसे एक विजिलाण्टे की ज़रूरत है। पूँजीवाद की सभी आलोचनाएँ और सभी भविष्य के रास्ते बेन और उसकी "क्रान्ति" में समाहित हो जाते हैं। इस "क्रान्ति" की तुलना डिटेक्टिव ब्लैक एक 'असफल राज्य' से करता है। हमारे सामने विकल्प रखा जाता है- पूँजीवाद या बर्बरता! अंत में फटे हुए अमरीकी झण्डों के नीचे गॉथम के पुलिस वाले, बैटमैन उस झण्डे की सलामती के लिए लड़ते हैं और जीतते हैं।

## विजिलाण्टे , यानी बैटमैन की ज़रूरत

यह व्यवस्था की कमियों को पेश कर उसके हल के तौर पर विजिलाण्टे यानी संरक्षक को स्थापित करती है। कैसे? आइये देखते हैं। फिल्म हमें व्यवस्था के कुछ

अन्तर्विरोधों से परिचित कराती है, राज्य मशीनरी के कुछ अँधेरे पहलू दिखाती है। परन्तु यह सब हमें उस सन्दर्भ के चौखटे से दिखाती है जैसा शासक वर्ग चाहता है। यह बुर्जुआ वर्ग का वर्ग दृष्टिकोण हम पर थोपती है, उसके साथ हमें सहानुभूति महसूस कराती है। शहर को भ्रष्टाचार और अपराध में लिप्त दिखाया जाता है वहीं वेन फाउन्डेशन के सामाजिक सुधार कार्यों का व्याख्यान आता है। बैटमैन भी अपना दुश्मन भ्रष्टाचार और अपराधियों को बनाता है। परन्तु भ्रष्टाचार और अपराध का सवाल शासन प्रणाली में बदलाव, किसी मसीहा या व्यक्तिगत सदाचार का प्रश्न नहीं है। यह समाज विज्ञान का प्रश्न है। भ्रष्टाचार और अपराध पूँजीवाद की कढ़ाई और बुनाई है, ये इससे अलग नहीं हो सकता है। आखिर बैटमैन ने कभी यह सवाल क्यों नहीं उठाया कि क्यों अमरीका में ऊपर के 20 प्रतिशत लोगों के पास कुल देश का 89 प्रतिशत सम्पत्ति है और नीचे के 80 प्रतिशत लोगों के पास महज 11 प्रतिशत! बैटमैन को यह भ्रष्टाचार नहीं लगता! लगेगा भी कैसे? बैटमैन यानी ब्रूस वेन स्वयं ऊपर के 20 प्रतिशत अमीरों की आबादी का हिस्सा जो है! खैर, हम वापस फिल्म पर आते हैं। एक दृश्य में कमिश्नर गॉर्डन और डिटेक्टिव जॉन ब्लेक के बीच संवाद में कमिश्नर कहता है कि "एक ऐसा समय आता है जब ढाँचा आपको असफल करने लगता है, जब नियम हथियार



नहीं रह जाते हैं, वे बेड़ियाँ बन जाते हैं और ग़लत आदमियों को आगे बढ़ने का मौका देते हैं...”। यह पूरा कथन पूँजीवाद के अधःपतन में गिरने के कारण पैदा हुए संकट का एक रूपक है, जिसमें पूरा का पूरा शासक वर्ग भयंकर नैतिक-भौतिक पतन, सड़कें, भ्रष्टाचार, और अनाचार का शिकार हो चुका है और जनता के बीच इसके खिलाफ़ नफ़रत पनप रही होती है। इस संकट का हल कमिश्नर गॉर्डन एक ऐसे संरक्षक की ज़रूरत के रूप में देता है – “जो अपने हाथों को गन्दा करके, तुम्हारे हाथों को साफ़ रख सके!” यह बात बैटमैन के होने की ज़रूरत को बयान करती है। इस पूरे कथन का इस्तेमाल आज विजिलाण्टे की विचारधारा से प्रेरित फासीवादी समूह भी कर सकते हैं, अतिमानव की नीतियों की विचारधारा पर पनपने वाले तमाम संगठन कर सकते हैं। मिसाल के तौर पर, यूनान में ‘गोल्डेन डॉन’ के नवनात्सी समूह जो प्रवासी मजदूरों की हत्या करने का काम करते हैं, जिन्होंने लोगों के बीच एक सीटी बाँट रखी है, जिसे बजाने पर वे तुरन्त उपस्थित हो जाते हैं और आपके प्रवासी लोगों के ख़तरे से संरक्षण के काम को अंजाम देते हैं! ज़ाहिरा तौर पर इस काम में हाथ तो गन्दे होते ही हैं! लेकिन विजिलाण्टे की सोच पर निर्भर रहने वाले सम्पत्तिधारी उच्च मध्यवर्ग के हाथ साफ़ ही रहते हैं।

बैटमैन श्रृंखला की तीनों फिल्मों (बैटमैन बिगिन्स, डार्क नाईट, डार्क नाईट राइजिज) के जरिये नोलन ने बैटमैन रुपी संरक्षक की ज़रूरत के उद्गम और उसके स्थापत्य को दर्शाया है। यह अरबपति अनाथ के दुःख-दर्द को बयान करती हुई उसके व्यक्तिगत संघर्षों से उसके इस संरक्षक में तब्दील होते हुए दिखाती है। बैटमैन व्यवस्था के नियमों, राज्य व्यवस्था के आम नियमों से ऊपर उठता है और “जब ढांचा आपको असफल करने लगता है, जब नियम हथियार नहीं रह जाते हैं, वे बेड़ियाँ बन जाते हैं और ग़लत आदमियों को आगे बढ़ने का मौका देते हैं” तब बैटमैन नियमों को तोड़कर, बेड़ियों को तोड़कर ग़लत आदमियों को बढ़ने से रोकता है! फिल्म में ये ग़लत आदमी दर्शाए गए हैं— ड्रग माफिया, भ्रष्टाचारी, अराजकतावादी (जोकर), चरम अराजकतावादी बेन और खुद को विश्व का संरक्षक (बैटमैन के अंतर्राष्ट्रीय संस्करण) कहने वाले रा’ज़-उल-गुल का समूह ‘लीग ऑफ़ शैडोज़’। यहाँ यह भी गौरतलब है कि बैटमैन को प्रशिक्षित करने का काम इसी ‘लीग ऑफ़ शैडोज़’ में ही हुआ था और बेन का प्रशिक्षण भी इसी में हुआ था। बैटमैन श्रृंखला की दूसरी फिल्म में बैटमैन गॉथम में मौजूद हर व्यक्ति के फोन पर निगरानी करता है जिससे कि जोकर को रोक सके। यह वही तर्क है जो तमाम सुरक्षा संस्थाएँ आम नागरिकों की सर्विलिएंस करके अपने को न्यायोचित ठहराने में करती हैं, ग़लत आदमी (व्यवस्था विरोधी, जो कि नोलन के नज़रिये से केवल अराजकतावादी हो सकते हैं, क्रान्तिकारी नहीं, जो कि संगठित जनता के बल पर पूँजीवाद को न सिर्फ़ नष्ट करें, बल्कि उसके विकल्प के तौर पर एक ज़्यादा तार्किक और वैज्ञानिक व्यवस्था का निर्माण करें) को रोकने के लिए। हालाँकि बैटमैन खुद नियम से बँधा नहीं है,

अराजक है, परन्तु यह ऐसी अराजकता है जो व्यवस्था की ज़रूरत है और व्यवस्था की सेवा करती है। अगर अपने देश में जरा नज़र दौड़ाएँ तो रालेगाँव सिद्धि का बैटमैन (!) भी ऐसा ही कर रहा था! वह भी पूँजीवाद की सारी बीमारियों और दिक्कतों की जड़ भ्रष्टाचार को बता रहा था। अण्णा हज़ारे ने जो प्रयोग रालेगाँव सिद्धि में किया है धर्म और सुधार के नाम पर, बैटमैन गॉथम में उसे अपनी पूँजी की ताकत पर करता है। तमाम सुरक्षा संस्थाएँ (संरक्षक!) भी सुरक्षा के नाम पर लम्बे समय से सवैधानिक अधिकारों को ताक पर रखकर काम करती हैं। फिल्म बेन की “क्रांति” के खिलाफ़ बैटमैन की ज़रूरत को आम ज़रूरत बना देती है। फिल्म का दृष्टिकोण हमें बैटमैन के साथ सहानुभूति पैदा कराता है। यह फिल्म भ्रष्ट पूँजी और पूँजीवाद के हर संकट के खिलाफ़ सदाचारी पूँजीवाद के समर्थक और उसके संरक्षक बैटमैन की ज़रूरत को स्थापित करती है। यह बुर्जुआ नायक की ज़रूरत को आम जनता की ज़रूरत के रूप में पेश करती है।

असल में ये दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। यह मौजूदा समय में पूँजीवाद के मौजूदा संकट के कारण ही एकीकृत हैं। क्रिस्टाफ़र नोलन व्यवस्था के कुछ अँधेरे कोनों को दिखाते हुए पूँजीवाद की समालोचना रखते हैं और बताते हैं कि तमाम संकटों के कारण बेन सरीखे सिरफ़िरे व्यवस्था पर कब्ज़ा कर अराजकता फैला सकते हैं। बढ़ते आर्थिक संकट के कारण जो जन दबाव सड़कों पर फूट पड़ा है, नोलन उसका चित्रण बेन के अराजकतावाद में समाहित करते हैं और दूसरी तरफ़ इन ख़तरों से निपटने के लिए वर्ग सचेत पूँजीपति राज्य व्यवस्था के विजिलाण्टे की ज़रूरत को स्थापित करते हैं। फिल्म व्यवस्था को उस ‘रेफ़्रेन्स फ़्रेम’ से खड़े होकर प्रदर्शित करती है जो बुर्जुआ वर्ग का है। यह बुर्जुआजी की हीरो की ज़रूरत को (शासन चलाने के लिये) हमारी ज़रूरत के रूप में पेश करती है। यह फिल्म पूँजीवाद की समालोचना कर उसे और अधिक स्थापित करती है। बेन या जोकर के रूप में यह पूँजीवाद का एकमात्र विकल्प बर्बरता दिखाती है। इसलिए अन्त में पूँजीवाद के प्रति समस्त नफ़रत के बावजूद आपको यह मानने के लिए प्रेरित किया जाता है कि समाज में गैर-बराबरी और अपराध तो रहेगा ही, लेकिन यह सब कम-से-कम एक व्यवस्था का अंग है! अगर आप पूँजीवाद के विकल्प की बात करेंगे तो उसका अर्थ होगा हर प्रकार की व्यवस्था का नकार, जैसा कि मौजूद जनान्दोलनों में अराजकतावादियों के बारे में कहा भी जा सकता है। लेकिन फिल्म इस सम्भावना को ज़िक्र तक नहीं करती है कि पूँजीवादी व्यवस्था और समाज का विकल्प एक समाजवादी व्यवस्था और विकल्प हो सकते हैं। वास्तव में, जन अदालतों का रूपक फिल्म में कम्युनिज़्म की ओर ही इशारा करता है और यह दिखलाने का प्रयास करता है कि कम्युनिज़्म अवास्तविक और अयथार्थवादी है और वह अन्ततः बर्बर किस्म की अराजकता में ख़त्म हो सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि कम्युनिज़्म की यह तस्वीर साम्राज्यवादी मीडिया का कुत्साप्रचार है।

# आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र की आलोचना

## भ्रष्टाचार-मुक्त सन्त पूँजीवाद के भ्रम को फैलाने का बेहद बचकाना और मज़ाकिया प्रयास

● शिवानी

सम्भव है कि आपमें से कुछ ने अरविन्द केजरीवाल एण्ड पार्टी की आम आदमी पार्टी का घोषणापत्र देखा हो। हाल ही में उसे पढ़ने का मौका मिला। पढ़ते ही यह लगा कि तीसरी या चौथी कक्षा के किसी बच्चे ने 'मेरे सपनों का भारत' नामक विषय पर निबन्ध लिख डाला है, या फिर यह भी कह सकते हैं कि लगा कि सूरज बड़जात्या ने देश को ध्यान में रखते हुए 'हम साथ-साथ हैं' या 'हम आपके हैं कौन?'-टाइप एक पारिवारिक फिल्म की पटकथा लिखी हो। केजरीवाल एण्ड पार्टी की पार्टी का यह घोषणापत्र ग़ज़ब की चमत्कारी खूबियाँ लिये हुए है। घोषणापत्र में हर समस्या का समाधान पेश किया गया है, वह भी मिनटों में! चाहे भ्रष्टाचार की समस्या हो (इसे केजरीवाल एण्ड पार्टी कैसे भूल सकती है, यह तो उनका प्रिय विषय है! इसी की वजह से तो उनका "धन्धा", मतलब कि उनका काम चल रहा है), सामाजिक भेदभाव, छुआछूत और अन्याय का मसला हो, किसानों की आत्महत्या का मुद्दा हो, या महिलाओं की स्थिति का सवाल हो-सभी का 'इंस्टैंट समाधान' केजरीवाल एण्ड पार्टी के घोषणापत्र में आपको मिल जायेगा। यही नहीं, अगर आप उन्हें किसी मुद्दे पर सुझाव देना चाहते हैं तो वह उस मुद्दे पर अपनी पार्टी का स्टैंड तक बदलने का तैयार हैं। काफ़ी खुली हुई पार्टी है यह 'आम आदमी' की पार्टी!

घोषणापत्र के कवर पर केजरीवाल एण्ड पार्टी अपनी पार्टी के उद्देश्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं: "हमारा सपना-राजनीतिक क्रान्ति"। तो बात साफ़ है-इस पार्टी का उद्देश्य महज़ देश की राजनीति (पढ़िये 'बुर्जुआ राजनीति') में व्याप्त भ्रष्टाचार का खात्मा एक "राजनीतिक क्रान्ति" को अंजाम देकर करना है। पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विकल्प पेश करना इस पार्टी के एजेण्डा पर है ही नहीं।

जहाँ कहीं भी केजरीवाल एण्ड पार्टी 'व्यवस्था परिवर्तन' की बात करते हैं, वहाँ उनका मतलब सिर्फ़ और सिर्फ़ इसी किस्म की राजनीतिक क्रान्ति से होता है। आगे घोषणापत्र में इस पार्टी के औचित्य पर प्रकाश डाला जाता है। यहाँ हमें बताया जाता है कि देश की किसी भी पार्टी से भ्रष्टाचार-मुक्त भारत की उम्मीद नहीं की जा सकती है। हमें यह भी बताया जाता है कि "पिछले दो सालों से हमने (केजरीवाल एण्ड कम्पनी ने) सबकुछ करके देख लिया। सरकार से चर्चा की, सभी पार्टियों से प्रार्थना की, उनके सामने गिड़गिड़ाये, धरना किया, प्रदर्शन किया, और तीन बार अनिश्चितकालीन अनशन किया। लेकिन ये पार्टियाँ नहीं मानीं, नेता नहीं माने।" इसके बाद अचानक केजरीवाल एण्ड पार्टी का सुर बदलता है और वह कहते हैं कि अब गिड़गिड़ाने से काम नहीं चलेगा। अब इन सभी पार्टियों को सत्ता से उखाड़कर फेंकना ही होगा। पूरी व्यवस्था ही बदलनी होगी। प्रिय पाठक! अति-आशान्वित मत होइये! क्योंकि अगले ही वाक्य में हमें यह बतलाकर हमारी ज्ञान चक्षु खोले जाते हैं कि इन सभी बातों का यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि राजनीति में बैठे सभी लोग भ्रष्ट हैं और यह भी नहीं है कि केजरीवाल एण्ड पार्टी ईमानदार हैं और अगर वे लोग सत्ता में पहुँचे तो ईमानदारी से सरकार चलायेंगे! एक बात तो माननी पड़ेगी! आप केजरीवाल एण्ड कम्पनी की किसी और बात से सहमत हों या न हों, उनकी इस बात से तो आप सहमत हुए बिना नहीं रह सकते! क्या ईमानदारी और साफ़गोई दिखायी है! लेकिन फिर यह सवाल उठता है कि अगर मौजूदा पार्टियाँ भ्रष्ट हैं और आम आदमी पार्टी भी ईमानदार होने का दम नहीं भरती तो फिर श्रीमान केजरीवाल की क्रान्ति होगी कैसे? इस पर तपाक से उनका जवाब आता है कि पूरी राजनीतिक (गौर कीजिये केवल राजनीतिक) व्यवस्था जो दूषित हो चुकी है, को

पूरी तरह से बदलना होगा। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें “सीधे जनता के हाथ में चाभी” हो। केजरीवाल एण्ड पार्टी सत्ता के केन्द्रों को ध्वस्त करके राजनीतिक सत्ता सीधे जनता के हाथ में देने जा रही है।

वैसे तो इसके आगे और कुछ भी बताने की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि केजरीवाल के आन्दोलन के निशाने पर पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक बुरा-भ्रष्ट पूँजीवाद है, या स्वयं केजरीवाल के शब्दों में “साँठ-गाँठ करने वाला पूँजीवाद” है। आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र में आप एक भी जगह स्वयं पूँजीवाद को कठघरे में खड़ा नहीं पाते हैं। आपको कहीं पर भी इस बात का जिक्र तक नहीं मिलता कि अगर भ्रष्टाचार है तो आखिर क्यों है? हर जगह इसके बारे में ऐसे बात की गयी है कि यह प्राकृतिक रूप से प्रदत्त कोई समस्या है। कहीं पर भी यह नहीं बताया जाता है कि जिस सामाजिक-आर्थिक संरचना की बुनियाद में ही मुनाफ़े, लोभ, लालच की संस्कृति और तर्क व्याप्त हो, वहाँ भ्रष्टाचार से इतर आप किसी अन्य आचरण की उम्मीद कर ही कैसे सकते हैं? लोकपाल कानून को ‘पनेशिया’ बताकर भ्रष्टाचार के मूल स्रोत पर ही पर्दा डाल दिया जाता है। क्या यह सच नहीं है कि एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था जिसमें पूरा उत्पादन और वितरण तन्त्र समाज की ज़रूरतों के लिए काम नहीं करता, बल्कि पूँजीपतियों के निजी मुनाफ़े के लिए काम करता है, उसमें भ्रष्टाचार की समस्या का कोई समाधान नहीं है। केजरीवाल एण्ड पार्टी पूँजीवाद के इसी सच को छिपाने का काम कर रहे हैं।

हम वापस आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र पर आते हैं। घोषणापत्र में “आज़ादी के दीवानों” के सपनों के भारत का आह्वान किया गया है। और आज़ादी के इन दीवानों में लाइन से महात्मा गाँधी, सुभाष चन्द्र बोस, भगतसिंह, अशफ़ाकउल्ला, चन्द्रशेखर आज़ाद, रामप्रसाद बिस्मिल और मंगल पाण्डेय की बात की गयी है। क्या महात्मा गाँधी और भगतसिंह व उनके साथियों ने आज़ाद भारत का एक ही सपना देखा था? क्या इन लोगों के विचार, अगर सिर्फ़ आज़ादी की ही बात करें, तो उसको लेकर भी, विचारधारात्मक रूप से भी भिन्न नहीं थे? इस तरह के विचारधारा से ऊपर प्रतीत होने वाले लोकरंजक जुमलों का इस्तेमाल करने वाले केजरीवाल एण्ड पार्टी बुर्जुआ राजनीति में पहले लोग नहीं हैं। इनकी पार्टी तो इसकी समृद्ध विरासत में एक इज़ाफ़ा भर कर रही है। इसके बाद कुछ फिल्मी-टॉपिङ डायलॉगबाज़ी में संविधान में ‘आम आदमी’ से किये गये वायदों की बात की गयी है। और यहीं से इस घोषणापत्र में विरोधाभासों की श्रृंखला शुरू हो जाती है। एक तरफ़ तो केजरीवाल एण्ड पार्टी संविधान की न्यायपरकता का गुणगान गाते नहीं थकते और वहीं दूसरी तरफ़ अपने घोषणापत्र में थोड़ा आगे बढ़ते ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उसी औपनिवेशिक

कानून और ढाँचे को बनाये रखने की आलोचना करते हैं, जिसका अंग स्वयं यह संविधान भी है। लगता है केजरीवाल यह भूल गये हैं कि 1950 में जो संविधान अस्तित्व में आया वह 1935 के ‘गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट’ का ही एक संशोधित रूप था। आगे घोषणापत्र में कहा गया है कि सबसे पहले अंग्रेज़ों द्वारा बनाये गये ढाँचे को बदलना होगा। इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि क्या फिर संविधान को भी बदलना पड़ेगा? ऐसी विसंगतियों की तो इस घोषणापत्र में भरमार है। इसका कारण भी स्वयं इस पार्टी की राजनीति में अन्तर्निहित है। अपनी तमाम “क्रान्तिकारिता” के बावजूद केजरीवाल एण्ड पार्टी बुर्जुआ वर्ग की ही सेवा में लगी है। फर्क बस इतना है कि वे इस काम को ज़्यादा चालाकी से अंजाम दे रहे हैं। कुछ रैडिकल जुमलों और नारों का इस्तेमाल करके वे यह भ्रम पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं कि वे कोई नयी बात कह रहे हैं। या फिर कोई नया रास्ता सुझा रहे हैं। लेकिन जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, ऐसा कुछ नहीं है।

घोषणापत्र में आगे हमें मौजूदा ढाँचे के तीन स्तम्भों कार्यपालिका, विधायिका, और न्यायपालिका के बारे में बताया जाता है। केजरीवाल एण्ड पार्टी के अनुसार ये तीनों ही अपनी भूमिका से चुक गये हैं। सरकार में बैठे कुछ नेता और अफसर देश के सभी फ़ैसले लेते हैं, जनता की कुछ नहीं चलती है। आम आदमी पार्टी का यही सपना है कि “सरकार” शब्द की परिभाषा बदली जाय। इनके अनुसार अब कोई राजा नहीं होगा, कोई प्रजा नहीं होगी, कोई वी.आई.पी. नहीं होगा। केवल आम आदमी होगा! इस देश का हर आम आदमी “सरकार” होगा। यह वाकई दिवा-स्वप्न के समान है। केजरीवाल एण्ड पार्टी इसे पूरा करने का एक बहुत ही आसान रास्ता सुझाते हैं। इस पार्टी के घोषणापत्र में कहा गया है कि यह मॉडल ऐसा होगा जिसमें अपने गाँव के बारे में सभी निर्णय गाँव की ग्रामसभा में बैठकर उस गाँव के लोग ले सकेंगे। शहरों में अपनी मुहल्लों की समस्याओं के बारे में उस मुहल्ले में रहने वाले सभी लोग निर्णय ले सकेंगे। जब लोग ग्राम सभा और मुहल्ला सभा में बैठकर निर्णय लेंगे तो अपने गाँव और मुहल्ले के लिए वही सरकार होंगे। लेकिन ये सभी निर्णय संविधान और अन्य कानूनों के तहत होने चाहिए उनके बाहर नहीं होने चाहिए। लेकिन यह कहीं नहीं बताया जाता कि इस मॉडल में समाज में मौजूद समस्त उत्पादक संसाधनों का स्वामी कौन होगा? क्या मौजूदा समाज में संसाधनों और सम्पत्ति का जो बँटवारा मौजूद है, वह कायम रखते हुए ये नयी राजनीतिक संस्थाएँ बनायी जायेंगी? यदि हाँ, तो ऐसी राजनीतिक संस्थाओं में औपचारिक तौर पर तो निर्णय लेने का अधिकार सभी नागरिकों के पास होगा, लेकिन व्यवहारतः उन्हीं नागरिकों की सुनी जायेगी, जिनके पास आर्थिक और उत्पादक संसाधनों पर ज़्यादा नियन्त्रण होगा। यानी कि, अगर राजनीतिक निर्णय लेने की मौजूदा इकाई को बदल भी दिया जाय तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा, बशर्त कि समाज

में मौजूद समस्त उत्पादक संसाधनों का स्वामी समूचे मेहनतकश वर्ग को सामूहिक तौर पर बनाया जाय। लेकिन इस विषय में घोषणापत्र में केजरीवाल ने कहीं एक शब्द भी नहीं कहा है कि वे जिस तथाकथित नयी व्यवस्था की बात कर रहे हैं उसमें समूचे कल-कारखानों, खेतों-खलिहानों और खानों-खदानों का मालिक कौन होगा? अगर टाटा, बिड़ला, बजाज, हिन्दुजा, अम्बानी, जिन्दल और मित्तल ही उसके मालिक होंगे, तो केजरीवाल की गली-मुहल्ला सभाएँ और ग्राम सभाएँ कुछ नहीं कर पायेंगी। वास्तव में, राजनीतिक निर्णय लेने की ताकत भी उन्हीं के पास होती है जिनके पास समाज में आर्थिक संसाधनों पर इजारेदारी होती है। और जाहिर है कि केजरीवाल इनके खिलाफ नहीं जायेंगे।

मौजूदा सम्पत्ति सम्बन्धों को बदले बिना इस किस्म के भागीदारी लोकतन्त्र के सभी मॉडल बुर्जुआ वर्चस्व को ही मजबूत करने का काम करेंगे। विधायिका और न्यायपालिका के चरित्र के बारे में भी यह बात उतनी ही सच है। पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंक कर और पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण करके ही सत्ता की असल बागडोर आम मेहनतकश जनता के हाथों में आ सकती है। इस काम को अंजाम दिये बगैर सरकार चलाने और कानून बनाने में 'आम आदमी' की भागीदारी की बात जुमलेबाजी से ज़्यादा कुछ नहीं है।

इसके बाद आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र में राजनीति पर एक लघु नैतिक उपदेश दिया गया है। और हमें बताया गया है कि आम आदमी पार्टी का ध्येय राजनीति को एक बार फिर देशभक्ति और समाजसेवा से जोड़ना है, जैसा कि गाँधी ने किया था। यहाँ स्पष्ट ही है कि केजरीवाल एण्ड पार्टी का राजनीति से अर्थ बुर्जुआ चुनावी राजनीति से है और इसे भ्रष्टाचार और अपराध से मुक्त कर दिया जाय तो उन्हें बुर्जुआ राजनीति से कोई शिकायत नहीं है। पहली बात तो यह कि पूँजीवादी चुनावी राजनीति कभी भ्रष्टाचार-मुक्त हो ही नहीं सकती है; ऐसा सोचना आकाश-कुसुम की अभिलाषा करने के समान है कि लोकपाल कानून के भय से सारे राजनीतिज्ञ मि. सुथरा बन जायेंगे और देशभक्ति और समाजसेवा में लग जायेंगे! मूल सवाल यहाँ भी यही है कि राजनीतिक वर्ग आज उन्हीं वर्गों की सेवा में संलग्न है जिनके पास उत्पादन के साधनों और पूँजी का मालिकाना है। और अगर केजरीवाल की व्यवस्था में भी यह मालिकाना उनके ही पास रहेगा तो उनकी व्यवस्था में भी कानूनी तौर पर निर्णय लेने में सभी को भागीदारी दी जायेगी, लेकिन अन्ततः सुनी उन्हीं की जायेगी जिनके पास समाज के समस्त संसाधनों पर नियन्त्रण होगा। इसलिए यह सोचना कि किसी कानून के जरिये पूँजीवादी राजनीति में संलग्न पार्टियों के नेताओं को सुधारा जा सकता है, यही बताता है कि या तो केजरीवाल बहुत सयाने बन रहे हैं और जनता

को मूर्ख बना रहे हैं, या फिर वे सच में बेहद मूर्ख हैं। यहाँ यह भी गौरतलब है कि राज्यसत्ता पर काबिज़ लोगों को भ्रष्ट या ईमानदार के रूप में पेश किया गया है, लेकिन किसी वर्ग के प्रतिनिधि के तौर पर नहीं। जैसे कि समाजसेवा और देशभक्ति वाली राजनीति के मॉडल के तौर पर गाँधी का सन्दर्भ दिया गया है। लेकिन सभी जानते हैं कि गाँधी अपने व्यक्तिगत मानवतावाद आदि के बावजूद किसी वर्ग की ही सेवा कर रहे थे। गाँधी का ही सिद्धान्त था कि उत्पादक जनता के हाथों में उत्पादन के साधनों का मालिकाना नहीं सौंपा जाना चाहिए; गाँधी के अनुसार पूँजीपति वर्ग को ही 'न्यासी' (ट्रस्टी) के तौर पर उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण कायम रखना चाहिए। पूँजीपति मजदूरों के अभिभावक और कुशल, जिम्मेदार और मानवतावादी स्वामी के रूप में उभरता है! केजरीवाल भी अगर राजनेताओं को किसी वर्ग के नुमाइन्दे के तौर पर नहीं बल्कि "अच्छे" बनाम "बुरे", "भ्रष्ट" बनाम "ईमानदार" के रूप में पेश कर रहे हैं, तो साफ़ तौर पर वे अपनी प्रस्तावित व्यवस्था के बारे में सबसे बुनियादी सवालों पर गोल-मोल कर रहे हैं। मसलन, इस प्रस्तावित व्यवस्था में सत्ता वास्तविक तौर पर किनके हाथों में होगी? उत्पादन के साधनों का मालिकाना किनके हाथों में होगा? और इसी गोलमगोल में केजरीवाल का असली मकसद भी साफ़ हो जाता है—पूँजीवादी व्यवस्था के कपड़ों से दाग-धब्बे (यानी दागी मन्त्री, नेता, नौकरशाहों, आदि) को साफ़ करने का भ्रामक वायदा कर उसकी हिफाजत करना। यह एक दीगर बात है कि यह भी सम्भव नहीं है, लेकिन कम-से-कम टटपूँजिया और सबसे जल्दी भ्रमित होने वाले मध्यवर्गीय जनता के एक हिस्से को केजरीवाल कुछ समय के लिए उल्लू बनाने में सफल हो ही जायेंगे।

इसके बाद घोषणापत्र में शुरू होती है आम आदमी पार्टी द्वारा भ्रष्टाचार समेत हर सामाजिक बुराई को दूर करने की मैराथन मुहिम। इस मुहिम की शुरुआत केजरीवाल एण्ड पार्टी के सबसे पसन्दीदा विषय भ्रष्टाचार-दलन से होती है। 'आह्वान' में प्रकाशित अलग-अलग लेखों में भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान के चरित्र, राजनीति, विचारधारा सम्बन्धी प्रश्नों को लगातार उठाया गया है। जनलोकपाल कानून के विषय में भी 'आह्वान' के पिछले अंकों में लिखा गया है। इस घोषणापत्र में साफ़ शब्दों में कहा गया है कि जनलोकपाल कानून के तहत लोग नेताओं और कर्मचारियों के खिलाफ़ शिकायत दर्ज करा सकते हैं। सिर्फ़ नेता और कर्मचारी ही क्यों? बड़े-बड़े कारपोरेट घराने, मीडिया घराने, एन.जी.ओ. आदि के खिलाफ़ क्यों नहीं? अगर केजरीवाल एण्ड पार्टी भ्रष्टाचार को लेकर इतनी ही चिन्तित है तो फिर हर तरह के भ्रष्टाचार को क्यों नहीं निशाना बनाया गया है? यह तथ्य अपने आप में ही भ्रष्टाचार-विरोधी इस मण्डली के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। केजरीवाल के एन.जी.ओ. को खुद फोर्ड फाउण्डेशन और इसी जैसी कई

साम्राज्यवादी फण्डिंग एजेंसियों से पैसा मिलता है। इसलिए एन. जी.ओ. और तमाम ऐसी एजेंसियों के खिलाफ एक शब्द भी नहीं बोलना उनके लिए लाजिमी है। जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं कि भ्रष्टाचार अपने आपमें कोई समस्या नहीं है, बल्कि जो समस्या स्वयं यह व्यवस्था है उसका एक लक्षण मात्र है। पहले तो आप एक ऐसी व्यवस्था दे रहे हैं जिसमें पूँजी की सत्ता सर्वोपरि है, किसी भी कीमत पर मुनाफ़ा कमाना धार्मिक काम के समान है, लोभी और लालची होना व्यावहारिकता का परिचायक है, वहाँ भ्रष्टाचार पर हाय-तौबा मचाना और उस व्यवस्था को कठघरे में खड़ा न करना जो इस भ्रष्टाचार के लिए उर्वर ज़मीन तैयार करती है तो या तो इसे अव्वल दर्जे का घाघपन कहा जा सकता है या फिर हद दर्जे की मूर्खता! ऐसे किसी भी व्यवस्था में भ्रष्टाचार पर नैतिक उपदेश देते रहने से न तो भ्रष्टाचार की ही सेहत पर कोई फर्क पड़ेगा और न ही उस व्यवस्था की सेहत पर ही जो इस भ्रष्टाचार को जन्म देती है।

इसके बाद केजरीवाल एण्ड पार्टी सामाजिक विषमता, भेदभाव और जातिवाद के खात्मे का बीड़ा उठाती है। इस समस्या के समाधान के लिए वे कोई नया नुस्खा नहीं सुझाते, बल्कि आरक्षण को ही लागू करने की बात करते हैं, हालाँकि उनके अनुसार देश की हर पार्टी ने आरक्षण देने के नाम पर केवल वोट बैंक की राजनीति ही की है। केजरीवाल एण्ड कम्पनी किस तरह इन पार्टियों से इस मुद्दे पर भिन्न है, इसे बताना वे ज़रूरी नहीं समझते। इसके तुरन्त बाद वे अपना सुर थोड़ा बदलते हैं और कहते हैं कि सिर्फ़ आरक्षण से भी काम नहीं चलेगा। तो फिर किससे काम चलेगा? आरक्षण के साथ-साथ जाति और धर्म से ऊपर उठकर बच्चों को मुफ्त और उच्च कोटि की शिक्षा भी देनी होगी। प्रस्ताव तो ठीक है, लेकिन इसके लिए जो रास्ता उन्होंने सुझाया है वह है सभी सरकारी स्कूलों को अच्छे प्राइवेट स्कूलों के बराबर लाया जाय, सरकारी स्कूलों में शिक्षा के स्तर को सुधारा जाय और अच्छे प्राइवेट स्कूलों के स्तर का बनाया जाय। केजरीवाल एण्ड पार्टी के अनुसार, इससे न केवल पिछड़े तबके के बच्चों का भविष्य सुधरेगा, बल्कि आर्थिक रूप से कमज़ोर बच्चों का भी भविष्य बेहतर होगा। लेकिन सोचने का बात यह है कि अगर सरकारी स्कूलों को ही प्राइवेट स्कूलों जैसा बेहतर बना दिया जाता है (हालाँकि इस दावे पर भी सवाल खड़े किये जा सकते हैं कि प्राइवेट स्कूल ही कौन-से आदर्श स्कूल हैं) और सभी बच्चों को निशुल्क स्तरीय शिक्षा देना सरकार की ज़िम्मेदारी बना दी जाय तो फिर प्राइवेट स्कूलों की ज़रूरत ही क्यों? शिक्षा में निजी पूँजी का निवेश ही क्यों हो? जब तक शिक्षा में निजी पूँजी की लॉबी काम करेगी, तब तक सरकारी स्कूलों की बेहतर सम्भव ही नहीं है। अन्यत्र केजरीवाल एण्ड पार्टी घोषणापत्र में स्वास्थ्य, शिक्षा एवं अन्य क्षेत्रों में निजी पूँजी निवेश पर

अपनी अवस्थिति एकदम स्पष्ट कर देते हैं। वह कहते हैं कि सरकारी सेवाओं को बेहतर बनाने का कतई यह अर्थ नहीं है कि उनकी पार्टी निजी पूँजी निवेश के खिलाफ़ है। सरकारी स्कूलों और अस्पतालों की सुविधाओं को बेहतर करने का कतई यह मतलब नहीं है कि निजी स्कूल और अस्पताल अपना धन्धा चलाने से वंचित कर दिये जायेंगे। इस पूरे मसले पर इस पार्टी की वर्ग अवस्थिति एकदम स्पष्ट है।

घोषणापत्र के अगले हिस्से में आम आदमी पार्टी ने अपना आर्थिक दृष्टिकोण पेश किया है। इसका विश्लेषण कुछ इस तरह शुरू होता है—“देश की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग केवल सौ घरानों के हाथ में है और दूसरी तरफ़ देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या 20 रुपये प्रतिदिन से भी कम पर गुज़ारा करती है। क्या अमीरों और ग़रीबों के बीच में इतनी बड़ी खाई अच्छी बात है?” नहीं केजरीवाल साहब! यह कतई अच्छी बात नहीं है! यानी यह खाई कम हो तो चलेगा! ख़ैर! लेकिन इस “इतनी बड़ी खाई” को लेकर आपका यह उपदेशात्मक टोन क्या पूरे घोषणापत्र में बरकरार रहेगा? केजरीवाल एण्ड पार्टी ग़रीबों की हालत के लिए मौजूदा आर्थिक नीतियों को दोषी ठहराती है। इसके बाद अमीरी और ग़रीबी के इस फर्क का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह हास्यास्पद है। यहाँ कहीं भी पूँजीवाद में अन्तर्निहित आर्थिक विषमता की कोई पड़ताल नहीं है। पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों और पूँजीवादी वितरण तन्त्र की कोई पड़ताल नहीं है। बल्कि एक बार फिर भ्रष्टाचार को ही इस आर्थिक ग़ैर-बराबरी के लिए ज़िम्मेदारी ठहराया गया है। इसको वे इस प्रकार समझते हैं—“यदि कोई व्यक्ति सरकार से आज डेढ़ हज़ार करोड़ का टू जी स्पेक्ट्रम का लाइसेंस ख़रीदकर दस दिन बाद उसे छह हज़ार करोड़ में बेच दे और हज़ारों करोड़ का मुनाफ़ा बना ले तो क्या इसे जायज़ ठहराया जाना चाहिए? इस तरह से अर्जित किया धन क्या समाज, देश और लोकतन्त्र के लिए स्वस्थ है? या इसे ग़लत मुनाफ़ा कमाने के लिए व्यवस्था का दुरुपयोग कहेंगे?” नहीं केजरीवाल जी! इसे तो कतई जायज़ नहीं ठहराया जा सकता है। लेकिन एक सवाल जो दिमाग़ में उठ रहा है और जिसे पूछे बग़ैर मन मान नहीं रहा है वह यह है कि क्यों यह अमुक व्यक्ति ही डेढ़ हज़ार करोड़ का टू जी स्पेक्ट्रम लाइसेंस ख़रीदने की कूवत रखता है और इसकी कम्पनी में काम करने वाला मज़दूर क्यों नहीं? अगर यह अमुक व्यक्ति दस दिन बाद भी उसे उतनी ही कीमत पर बेचे और आपके मुताबिक “ग़लत मुनाफ़ा” न कमाये तो क्या यह पूरी चीज़ जायज़ ठहरायी जायेगी? यानी, रोज़-ब-रोज़ फ़ैक्ट्रियों-कारखानों, खानों-खदानों और खेतों पर जो करोड़ों-करोड़ औद्योगिक और ग्रामीण मज़दूर शोषण का शिकार होते हैं, जो कि पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, ठेकेदारों और फार्मरों और कुलकों द्वारा किया जाता है, वह आपकी नज़र में “सही मुनाफ़ा” है, “अच्छा मुनाफ़ा” है, और

सदाचार से कमाया गया मुनाफ़ा है! इसका अर्थ स्पष्ट है कि केजरीवाल के लिए दूसरों के श्रम के बूते किसी परजीवी द्वारा मुनाफ़ा कमाया जाना “सही मुनाफ़ा” है और साँठ-गाँठ और भ्रष्टाचार के ज़रिये चार सौ बीसी से कमाया गया मुनाफ़ा “ग़लत मुनाफ़ा” है! दूसरे शब्दों में कहें तो “सही मुनाफ़ा” जैसी भी कोई चीज़ होती है! दूसरी तरफ़, केजरीवाल एण्ड पार्टी उद्योगपतियों और व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार को लेकर काफी फ़िक्रमन्द है क्योंकि इस पार्टी के अनुसार इनमें से ज़्यादातर लोगों को यह भ्रष्टाचार मजबूरी में करना पड़ता है! इसलिए देश की आर्थिक नीतियाँ इस प्रकार से बनायी जानी चाहिए जिसमें तमाम पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, और व्यापारियों को किसी भी मजबूरी में आकर भ्रष्टाचार करके मुनाफ़ा कमाने की नौबत ही न आये! साफ़ है कि यहाँ केजरीवाल नौकरशाहों द्वारा कुल मुनाफ़े में प्राप्त की जाने वाली हिस्सेदारी पर सवाल खड़ा कर रहे हैं। वास्तव में, मज़दूरों और मेहनतकशों के श्रम से पैदा होने वाले अधिशेष में पूँजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्से अपना-अपना हिस्सा लेते हैं, जैसे कि मालिक वर्ग, नेता-नौकरशाह वर्ग आदि। इस हिस्सेदारी को लेकर उनके बीच भी अन्तरविरोध होते हैं। केजरीवाल इस अन्तरविरोध में छोटे और बड़े मालिक वर्ग का पक्ष लेते रहे हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि उनके भ्रष्टाचार की परिभाषा में केवल नेताशाही-नौकरशाही का भ्रष्टाचार आता है, पूँजीपतियों द्वारा किया जाने वाला भ्रष्टाचार नहीं! यहाँ पर जाहिर भी हो जाता है कि क्यों नहीं! क्योंकि पूँजीपति तो मजबूरी में भ्रष्टाचार करते हैं ताकि मुनाफ़े में नेताओं-नौकरशाहों की हिस्सेदारी को कम कर सकें और अपनी हिस्सेदारी को बढ़ा सकें। इसके उपचार के तौर पर केजरीवाल का मानना है कि नीतियाँ ही इस प्रकार बनायी जानी चाहिए कि नेताओं और नौकरशाहों की हिस्सेदारी वसूलने की क्षमता ख़त्म हो जाये। व्यावहारिक तौर पर इसका अर्थ है कि राज्यसत्ता द्वारा पूँजी पर थोपी गयी सभी विनियामक अनिवार्यताओं को ख़त्म कर दिया जाय। राजीव गाँधी ने भी भ्रष्टाचार को ख़त्म करने का यही रास्ता बताया था कि इस्पेक्टर राज-कोटा राज ख़त्म कर दिया जाय, जिससे कि नेताशाही और नौकरशाही का भ्रष्टाचार ख़त्म हो। अब एक दूसरे रूप में केजरीवाल वैसे ही प्रस्ताव रख रहे हैं, हालाँकि निजीकरण-उदारीकरण के दो दशक ने दिखला दिया है कि ऐसा करने से केवल भ्रष्टाचार का रूप बदलेगा, भ्रष्टाचार ख़त्म नहीं होगा। लेकिन मालिक वर्ग की सेवा में संलग्न केजरीवाल लोगों को मूर्ख बनाने के लिए ऐसा ही प्रस्ताव रख रहे हैं, और पूँजीपतियों को ‘विक्रम’ के तौर पर पेश कर रहे हैं जिन्हें “मजबूरी में भ्रष्टाचार” करना पड़ता है! यह राजनीतिक अश्लीलता का चरम है।

इसके बाद घोषणापत्र में एक-एक करके कई मुद्दों को उठाया गया है। किसानों की ज़मीनों का जबरन अधिग्रहण, किसानों को आत्महत्या करने पर मजबूर किया जाना ( जो कि

बेचारे पूँजीपतियों द्वारा “मजबूरी” में ही किया जाता है!), प्राकृतिक संसाधनों की लूट-खसोट (ये भी बेचारे पूँजीपति करने का मजबूर होते हैं!), महँगाई, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं को अभाव, बेरोज़गारी, ठेकेदारी प्रथा, महिलाओं की स्थिति—इन सभी पर कुछ लोक-लुभावन नुस्खे और वही सूरज बड़जात्या मार्का फिल्मों जैसे समस्याओं का निदान करने का तरीका सुझाया गया है। न तो इन सारी समस्याओं को और न ही इनके विश्लेषण में पूँजीवाद को कठघरे में खड़ा किया गया है। दो-दो, तीन-तीन लाइनों में समस्याओं का बखान और उनके समाधान की व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि कुछ कानूनों के पारित हो जाने से, जिसमें लोकपाल बिल सबसे ऊपर आता है, ये सारी समस्याएँ खुद-ब-खुद समाप्त हो जायेंगी। कारण स्पष्ट है कि इन समस्याओं का समाधान वास्तव में इस पार्टी के एजेण्डा पर है भी नहीं।

घोषणापत्र के अन्त में हमें बताया गया है कि आम आदमी पार्टी किस रूप में अन्य चुनावबाज़ पार्टियों से भिन्न है। हमें बताया गया है कि इस पार्टी का कोई भी प्रत्याशी यदि सांसद या विधायक बनता है तो वह लाल बत्ती की गाड़ी में नहीं चलेगा, सरकारी बंगलों में नहीं रहेगा, किसी तरह की सुरक्षा नहीं लेगा। यह सब तो ठीक है लेकिन ऐसा करने के बावजूद यह पार्टी पूँजी और पूँजीपतियों की चाकरी ही करेगी, या कहना चाहिए कि और बेहतर तरीके से करेगी, जो कि इसके घोषणापत्र से एक बार फिर स्पष्ट हो गया है। तो इसके इसके सादे जीवन से जनता को तो कुछ नहीं मिलेगा। आम आदमी पार्टी में वास्तव में नया कुछ भी नहीं है। यह पार्टी भ्रष्टाचार-विरोधी लहर पर सवार होकर सत्ता के गलियारों तक पहुँचने की कोशिश कर रही है। यह पार्टी कहीं भी मुनाफ़े पर टिकी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा नहीं करती है, बल्कि हर समस्या के लिए भ्रष्टाचार को ही मुद्दा बनाती है। यह मध्यवर्ग के भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद के भ्रम की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। ऐसा कोई पूँजीवाद सम्भव नहीं है। पूँजीवाद अपने आप में एक भ्रष्टाचार है।

ऐसी तमाम प्रयास पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में बीच-बीच में होते ही रहते हैं। जब-जब पूँजीवादी व्यवस्था अपनी नंगई और बेशरमी की हदों का अतिक्रमण करती है, तो उसे केजरीवाल और अण्णा हज़ारे जैसे लोगों की ज़रूरत होती है, तो ज़ोर-ज़ोर से खूब गरम दिखने वाली बातें करते हैं, और इस प्रक्रिया में उस मूल चीज़ को सवालियों के दायरे से बाहर कर देते हैं, जिस पर वास्तव में सवाल उठाया जाना चाहिए। यानी कि पूरी पूँजीवादी व्यवस्था। आम आदमी पार्टी का घोषणापत्र भी यही काम करता है। यह मार्क्स की उसी उक्ति को सत्यापित करता है जो उन्होंने ‘कम्युनिस्ट घोषणापत्र’ में कही थी। मार्क्स ने लिखा था कि पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा हमेशा समाज में सुधार और धर्मार्थ कार्य करता है, ताकि पूँजीवादी व्यवस्था बरकरार रहे।

## मक्सिम गोर्की की कहानी

# कोलुशा

क़ब्रिस्तान का वह कोना, जहाँ भिखारी दफ़नाये जाते हैं। पत्तों से छितरे, बारिश से बहे और आँधियों से जर्जर क़ब्रों के दूहों के बीच, दो मरियल-से बर्च वृक्षों के जालीदार साये में, जिंघम के फटे-पुराने कपड़े पहने और सिर पर काली शॉल डाले एक स्त्री एक क़ब्र के पास बैठी थी।

सफ़ेद पड़ चले बालों की एक लट उसके मुरझाये हुए गाल के ऊपर झूल रही थी, उसके महीन होंठ कसकर भिंचे थे और उनके छोर उसके मुँह पर उदास रेखाएँ खिंचते नीचे की ओर झुके थे, और उसकी आँखों की पलकों में भी एक ऐसा झुकाव मौजूद था जो अधिक रोने और काटे न कटने वाली लम्बी रातों में जागने से पैदा हो जाता है।

वह बिना हिले-डुले बैठी थी – उस समय, जबकि मैं कुछ दूर खड़ा उसे देख रहा था, न ही उसने उस समय कुछ हरकत की जब मैं और अधिक निकट खिसक आया। उसने केवल अपनी बड़ी-बड़ी चमकविहीन आँखों को उठाकर मेरी आँखों में देखा और फिर उन्हें नीचे गिरा लिया। उत्सुकता, परेशानी या अन्य कोई भाव, जोकि मुझे निकट पहुँचता देख उसमें पैदा हो सकता था, नाममात्र के लिए भी उसने प्रकट नहीं किया।

मैंने अभिवादन में एकाध शब्द कहा और पूछा कि यहाँ कौन सोया है।

“मेरा बेटा,” उसने भावशून्य उदासीनता से जवाब दिया।

“बड़ा था?”

“बारह बरस का।”

“कब मरा?”

“चार साल पहले।”

उसने एक गहरी साँस ली और बाहर छिटक आयी लट



लेखनरत गोर्की

को फिर बालों के नीचे खोंस लिया। दिन गरम था। सूरज बेरहमी के साथ मुर्दों के इस नगर पर आग बरसा रहा था। क़ब्रों पर उगी इक्की-दुक्की घास तपन और धूल से पीली पड़ गयी थी। और धूल-धूसरित रूखे-सूखे पेड़, जो सलीबों के बीच उदास भाव से खड़े थे, इस हद तक निश्चल थे मानो वे भी मुर्दा बन गये हों।

“वह कैसे मरा?”

लड़के की क़ब्र की ओर गरदन हिलाते हुए मैंने पूछा।

“घोड़ों से कुचलकर,”

उसने संक्षेप में जवाब दिया और अपना झुर्रियाँ-पड़ा हाथ फैलाकर लड़के की क़ब्र सहलाने लगी।

“यह दुर्घटना कैसे घटी?”

मैं जानता था कि इस

तरह खोदबीन करना शालीनता के खिलाफ़ है, लेकिन इस स्त्री की निस्संगता ने गहरे कौतुक और चिढ़ का भाव मेरे हृदय में जगा दिया था। कुछ ऐसी समझ में न आने वाली सनक ने मुझे घेरा कि मैं उसकी आँखों में आँसू देखने के लिए ललक उठा। उसकी उदासीनता में कुछ था, जो अप्राकृतिक था, और साथ ही उसमें बनावट का भी कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था।

मेरा सवाल सुनकर उसने एक बार फिर अपनी आँखें उठाकर मेरी आँखों में देखा। और जब वह सिर से पाँव तक मुझे अपनी नज़रों से परख चुकी तो उसने एक हल्की-सी साँस ली और अटूट उदासी में डूबी आवाज़ में अपनी कहानी सुनानी शुरू की।

“घटना इस प्रकार घटी। उसका पिता गबन के अपराध में डेढ़ साल के लिए जेल में बन्द हो गया। इस काल में हमने अपनी सारी जमा पूँजी खा डाली। यूँ हमारी वह जमा पूँजी कुछ अधिक थी भी नहीं। अपने आदमी के जेल से छूटने से पहले ईंधन की जगह मैं हार्स-रेडिश के डण्टल जलाती थी।

जान-पहचान के एक माली ने ख़राब हुए हार्स-रेडिश का गाड़ीभर बोझ मेरे घर भिजवा दिया था। मैंने उसे सुखा लिया और सूखी गोबर-लीद के साथ मिलाकर उसे जलाने लगी। उससे भयानक धुआँ निकलता और खाने का जायका खराब हो जाता। कोलुशा स्कूल जाता था। वह बहुत ही तेज़ और किफ़ायतशार लड़का था। जब वह स्कूल से घर लौटता तो हमेशा एकाध कुन्दा या लकड़ियाँ – जो रास्ते में पड़ी मिलतीं – उठा लाता। वसन्त के दिन थे तब। बर्फ़ पिघल रही थी। और कोलुशा के पास कपड़े के जूतों के सिवा पाँवों में पहनने के लिए और कुछ नहीं था। जब वह उन्हें उतारता तो उसके पाँव लाल रंग की भाँति लाल निकलते। तभी उसके पिता को उन्होंने जेल से छोड़ा और गाड़ी में बैठाकर उसे घर लाये। जेल में उसे लकवा मार गया था। वह वहाँ पड़ा मेरी ओर देखता रहा। उसके चेहरे पर एक कुटिल-सी मुस्कान खेल रही थी। मैं भी उसकी ओर देख रही थी और मन ही मन सोच रही थी – ‘तुमने ही हमारा यह हाल किया है, और तुम्हारा यह दोज़ख़ मैं अब कहाँ से भरूँगी? एक ही काम अब मैं तुम्हारे साथ कर सकती हूँ, वह यह कि तुम्हें उठाकर किसी जोहड़ में पटक दूँ।’ लेकिन कोलुशा ने जब उसे देखा तो चीख़ उठा, उसका चेहरा धुली हुई चादर की भाँति सफ़ेद पड़ गया और उसके गालों पर से आँसू टुकने लगे। ‘यह इन्हें क्या हो गया है, माँ?’ उसने पूछा। ‘यह अपने दिन पूरे कर चुका’, मैंने कहा। और इसके बाद हालत बद से बदतर होती गयी। काम करते-करते मेरे हाथ टूट जाते, लेकिन पूरा सिर मारने पर भी बीस कोपेक से ज़्यादा न मिलते, सो भी तब, जब भाग्य से दिन अच्छे होते। मौत से भी बुरी हालत थी, अक्सर मन में आता कि अपने इस जीवन का अन्त कर दूँ। एक बार, जब हालत एकदम असह्य हो उठी, तो मैंने कहा – ‘मैं तो तंग आ गयी इस मनहूस जीवन से। अच्छा हो अगर मैं मर जाऊँ – या फिर तुम दोनों में से कोई एक ख़त्म हो जाये!’ – यह कोलुशा और उसके पिता की तरफ़ इशारा था। उसका पिता केवल गरदन हिलाकर रह गया, मानो कह रहा हो – ‘झिड़कती क्यों हो? ज़रा धीरज रखो, मेरे दिन वैसे ही करीब आ लगे हैं।’ लेकिन कोलुशा ने देर तक मेरी ओर देखा, इसके बाद वह मुड़ा और घर से बाहर चला गया। उसके जाते ही अपने शब्दों पर मुझे बड़ा पछतावा हुआ। लेकिन अब पछताने से क्या होता था? तीर हाथ से निकल चुका था। एक घण्टा भी न बीता होगा कि एक पुलिसमैन गाड़ी में बैठा हुआ आया। ‘क्या तुम्हीं शिशोनीना साहिबा हो?’ उसने कहा। मेरा हृदय बैठने लगा। ‘तुम्हें अस्पताल में बुलाया है’, वह बोला – ‘तुम्हारा लड़का सौदागर आनोखिन के घोड़ों से कुचल गया है।’ गाड़ी में बैठ मैं सीधे अस्पताल के लिए चल दी। ऐसा मालूम होता था जैसे गाड़ी की गद्दी पर किसी ने गर्म कोयले बिछा दिये हों। और मैं रह-रहकर अपने को कोस रही थी – ‘अभागी औरत, तूने यह क्या किया?’

“आखिर हम अस्पताल पहुँचे। कोलुशा पलंग पर पड़ा पट्टियों का बण्डल मालूम होता था। वह मेरी ओर मुस्कुराया, और उसके गालों पर आँसू टुक

आये... फिर फुसफुसाकर बोला – ‘मुझे माफ़ करना, माँ। पैसा पुलिसमैन के पास है।’ ‘पैसा...कैसा पैसा? यह तुम क्या कह रहे हो?’ मैंने पूछा। ‘वही, जो लोगों ने मुझे सड़क पर दिया था और आनोखिन ने भी’, उसने कहा। ‘किसलिए?’ मैंने पूछा। ‘इसलिए’, उसने कहा और एक हल्की-सी कराह उसके मुँह से निकल गयी। उसकी आँखें फटकर खूब बड़ी हो गयीं, कटोरा जितनी बड़ी। ‘कोलुशा’, मैंने कहा – ‘यह कैसे हुआ? क्या तुम घोड़ों को आता हुआ नहीं देख सके?’ और तब वह बोला, बहुत ही साफ़ और सीधे-सीधे, ‘मैंने उन्हें देखा था, माँ, लेकिन मैं जान-बूझकर रास्ते में से नहीं हटा। मैंने सोचा कि अगर मैं कुचला गया तो लोग मुझे पैसा देंगे। और उन्होंने दिया।’ ठीक यही शब्द उसने कहे। और तब मेरी आँखें खुलीं और मैं समझी कि उसने – मेरे फ़रिश्ते ने – क्या कुछ कर डाला है। लेकिन मौका चूक गया था। अगली सुबह वह मर गया। उसका मस्तिष्क अन्त तक साफ़ था और वह बराबर कहता रहा – ‘दहा के लिए यह ख़रीदना, वह ख़रीदना और अपने लिए भी कुछ ले लेना।’ मानो धन का अम्बार लगा हो। वस्तुतः वे कुल सैंतालीस रूबल थे। मैं सौदागर आनोखिन के पास पहुँची, लेकिन उसने मुझे केवल पाँच रूबल दिये, सो भी भुनभुनाते हुए। कहने लगा – ‘लड़का खुद जान-बूझकर घोड़ों के नीचे आ गया। पूरा बाज़ार इसका साक्षी है। सो तुम क्यों रोज़ आ-आकर मेरी जान खाती हो? मैं कुछ नहीं दूँगा।’ मैं फिर कभी उसके पास नहीं गयी। इस प्रकार वह घटना घटी, समझे युवक!”

उसने बोलना बन्द कर दिया और पहले की भाँति अब फिर सर्द तथा निस्संग हो गयी।

क़ब्रिस्तान शान्त और वीरान था। सलीब, मरियल-से पेड़, मिट्टी के ढूह और क़ब्र के पास इस शोकपूर्ण मुद्रा में बैठी यह मनोविकारशून्य स्त्री – इन सब चीज़ों ने मुझे मृत्यु और मानवीय दुख के बारे में सोचने के लिए बाध्य कर दिया।

लेकिन आकाश में बादलों का एक धब्बा तक नहीं था और वह धरती पर झुलसा देने वाली आग बरसा रहा था।

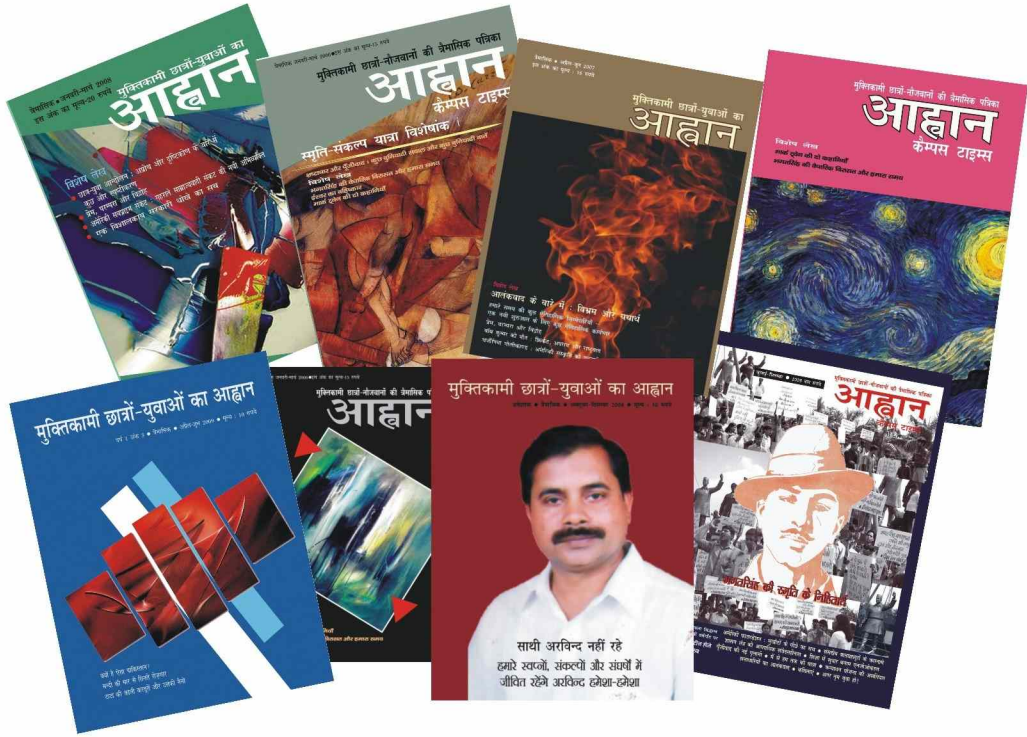
मैंने अपनी जेब से कुछ सिक्के निकाले और उन्हें इस स्त्री की ओर बढ़ा दिया जो, दुर्भाग्य की मारी, अभी भी जी रही थी।

उसने सिर हिलाया और विचित्र धीमेपन के साथ बोली –

“कष्ट न करो, युवक। आज के लिए मेरे पास काफ़ी है। आगे के लिए भी मुझे अधिक नहीं चाहिए। मैं एकदम अकेली हूँ। इस दुनिया में एकदम अकेली।”

उसने एक गहरी साँस ली और अपने पतले होंठ एक बार फिर उसी शोक से बल-खाई रेखा में भींच लिये।

( 1895 )



# मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

आह्वान के नियमित पाठकों के लिए एक विशेष उपहार :  
आह्वान के सभी उपलब्ध अंकों का सेट मात्र रु. 200 में!

(डाक व्यय अतिरिक्त)

दिलचस्पी रखने वाले सभी पाठक लिखें :

सम्पादकीय कार्यालय :

बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094

फोन : 9211662298

## खत्म करो पूँजी का राज लड़ो, बनाओ लोक-स्वराज!



हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से खारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से खारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के काबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फ़ैसले की पूरी ताकत उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है – ‘सारी सत्ता मेहनतकश को!’

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

**बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,  
स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन**

द्वारा चलाये जा रहे

**क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी**

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94,

फ़ोन : 011-64623 928 ईमेल : disha.du@gmail.com